हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

अप्रैल १९३४

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

हिंदुस्तानी

हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका

भाग ४ } अप्रैल १९३४ { अंक २

पालि भाषा

[लेखक—डाक्टर बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट् (इलाहाबाद)]

प्राचीन बौद्ध साहित्य प्राय: दो भाषाओं में मिलता है—*संस्कृत* तथा *पालि* । संस्कृत ग्रंथों का प्रचार बहुधा नेपाल, तिब्बत, बंग आदि देशों के बौद्धों में पाया जाता है और पालि ग्रंथों का सिंहलद्वीप, ब्रह्म देश तथा स्याम में । सिंहल-द्वीप की आजकल की बोलचाल की भाषा सिंहली, आर्यभाषा परिवार की है, पर ब्रह्म देश और स्याम की भाषाएँ आर्येतर परिवारों की हैं । परंतु शिक्षित समुदाय पालि भाषा का विशेष अध्ययन करते हैं और उन के लिए पालि वही महत्व और गौरव रखती है जो भारतीय हिंदुओं के लिए संस्कृत । पालि भाषा के ग्रंथ बहुधा सिंहली, ब्रह्मी तथा स्यामी लिपि में मिलते हैं । यूरोप के विद्वानों ने उन के रोमन लिपि के संस्करण प्रचलित किए हैं, जिन के द्वारा ही विशेष कर भारतीय विद्यार्थी इस भाषा का अध्ययन करते हैं । इधर धम्मपद आदि दो-एक सर्वसाधारण ग्रंथों के देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित हो गए हैं ।

'*पालि*' शब्द का प्रयोग पालि ग्रंथों में सर्वप्रथम इतिहास-ग्रंथों तथा

टीकाओं में मिलता है[1] और वहाँ इस का अर्थ कोई भाषा नहीं है। अर्थ है '*मूल*', '*बुद्धवचन*', '*धर्मप्रवचन*'। ऐसे स्थलों में इस अर्थ का विरोध '*अर्थकथा–टीका*' से दिखाया गया है। उदाहरण के लिए '*महावंस*' नाम के सिंहलद्वीप के इतिहास में रेवत थेर ने बुद्धघोष से कहा—

पालिमत्तमिधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध

'यहाँ (सिंहलद्वीप से) पालिमात्र लाई गई है यहाँ अर्थकथा (टीका) नहीं है'। जिस भाषा में यह ग्रंथ हैं उस को सिंहलद्वीप वासी '*मागधी*' कहते हैं। जैसे हिंदुओं का विश्वास है कि संस्कृत मनुष्य-जाति की आदिभाषा है, यहूदियों का विश्वास है कि हेब्रू परमेश्वर-प्रदत्त आदिभाषा है, जैनों का मत है कि 'आर्ष' ही प्राचीनतम भाषा है और इसे पशु-पक्षी भी समझ सकते हैं, उसी प्रकार बौद्धों का विचार है कि यह मागधी भाषा ही मूलभाषा है जिस के द्वारा ही प्रथम कल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और सम्यक् संबुद्ध सभी अपना व्यवहार चलाते थे[2]। भाषाओं के इतिहास का साधारण ज्ञान रखने वाले भी यह समझ सकते हैं कि इन मतों का आधार केवल कपोलकल्पना और अंधविश्वास है, तर्कयुक्त अनुसंधान नहीं। संभव है भाषा के अर्थ में यूरोपीय विद्वानों ने ही पहले-पहल '*पालि*' शब्द का प्रयोग किया हो। आरंभ में इन्हीं विद्वानों ने अशोक के शिलालेखों और स्तंभलेखों में प्रयुक्त भाषा के लिए भी '*पालि*' शब्द का व्यवहार किया था। पर इन दोनों भाषाओं में में यथेष्ट अंतर होने के कारण '*पालि*' शब्द का व्यवहार अब बौद्ध ग्रंथों की भाषा के ही लिए सीमित है।

पालि शब्द का अर्थ भी विद्वानों ने कई प्रकार किया है। बुद्धघोष

---

[1] 'पाली-इंग्लिश डिक्शनरी' (पाली टेक्स्ट सोसाइटी), 'पाली' शब्द देखिए।

[2] 'सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका।
ब्रह्माणो चस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे॥'

—१२ वीं शताब्दी के एक व्याकरण से

आदि पालि ग्रंथों के प्राचीन टीकाकारों के मत के अनुसार *पालि* शब्द *पाल्* धातु से संबद्ध है, जिस का अर्थ है पालन करना और रक्षा करना। मैक्स वैलेसर नाम के एक विद्वान का विचार है कि *पालि पाटलि* शब्द का अपभ्रंश मात्र है और इसी से पालि भाषा को पाटलिपुत्र की भाषा बताते हैं, पर इस के लिए उन्हों ने कोई युक्तसंगत प्रमाण नहीं दिए। *पाटलि* का अपभ्रंश रूप *पाडलि* अथवा *पाललि* हो सकता है *पालि* नहीं। *पालि* शब्द का बहुमान्य अर्थ '*पंक्ति, क़तार*' लिया जाता है और इसे प्राचीन *प्रालि* तथा प्राकृत *पल्ली*[1] से संबद्ध माना जाता है।

पालि के ध्वनिसमूह के अध्ययन करने से पता चलता है कि वह प्राचीन संस्कृत और (महाराष्ट्री आदि साहित्यिक) प्राकृतों के बीच की भाषा है। प्राकृतों में संस्कृत के दो स्वरों के बीच में आए हुए कुछ स्पर्श-वर्णों का प्राय: लोप हो जाता है, पर पालि में नहीं; यथा पालि *गच्छति*, महाराष्ट्री *गच्छइ*। प्राकृतों में सभी संयुक्त-वर्णों में कुछ विकृति पाई जाती है, पर पालि में दो एक में नहीं होती जैसे संस्कृत *ब्राह्मण*, पालि *ब्राम्हण*, प्राकृत *बम्हण*।

पालि भाषा के विषय में दो बातें विचारणीय हैं—(१) यह किस प्रदेश की भाषा थी और (२) किस समय बोली जाती थी।

प्रदेश के बारे में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोग बौद्ध परंपरा के अनुसार इसे मगध देश की भाषा मानते हैं, पर इस के मानने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। साहित्यिक प्राकृत मागधी की विशेषताएँ मुख्य तीन हैं—संस्कृत *ष् श् स्* के स्थान पर *श्*, *र्* के स्थान पर *ल्* और अकारांत संज्ञाओं के प्रथमा एकवचन का रूप एकारांत होना। पालि में यह तीनों बातें यत्र-तत्र ही केवल अपवाद रूप में पाई जाती हैं, नियम रूप में नहीं। यदि पालि मगध देश की ही भाषा रही होती तो कुछ न कुछ मागधी विशेषताएँ उस में पाई जातीं। इस का समाधान विंडिश महोदय यह कह कर देते हैं कि जब किसी प्रदेश

---

[1] यथा गाथासप्तशती १. ३१ 'पल्ली उण सा सुहं सुवइ।'

की बोली सर्वसाधारण की साहित्यिक भाषा हो जाती है तब वह अपनी प्रादेशिक विशेषताएँ त्याग देती है, पर यह समाधान युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। ग्रियर्सन महोदय भी पालि को मगध देश की समझते हैं और विंडिश महोदय के साथ सम्मति प्रकट करते हुए, पालि में पाई जाने वाली पश्चिमीय प्रदेशों की बोली की विशेषताओं का कारण तक्षशिला विद्यालय—जहाँ उन के मतानुसार उस समय पैशाची भाषा बोली जाती थी—का संपर्क और प्रभाव बताते हैं। पर पैशाची विशेषताएँ भी पालि में केवल यत्र-तत्र मिलती हैं और उन का भी सिल्वेन लेवी के मतानुसार कृत्रिम संस्कृत के प्रभाव से समाधान हो सकता है। ग्रियर्सन महोदय यह कह कर अपने प्रतिवादी कोनो महोदय के पैशाची भाषा के विंध्यप्रदेश-संबंधी उद्‌गम-स्थान का निराकरण करना चाहते थे।

प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय रीज़ डेविड्ज़् के मत के अनुसार पालि प्राचीन कोसल देश की भाषा थी। उन का मत था कि ईसा के पूर्व सातवीं शताब्दी में कोसल राज्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था और इसी प्रदेश की एक भाषा कोसली संस्कृत के मुक़ाबिले में खड़ी हो गई थी। बुद्ध भगवान् इसी कोसल राज्य के निवासी थे और इसी प्रदेश की बोली बोलते थे और उन्हों ने इसी में अपने धर्म का प्रचार किया था। यही भाषा कालांतर में अशोक राजा के लेखों की भाषा अर्धमागधी हुई। पर एक तो इस प्रकार कोसल राज्य के साम्राज्य का तथा भाषा का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं और दूसरे अर्धमागधी और पालि में बहुत भेद है, इस कारण रीज़् डेविड्ज़् का मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता। पीछे से इन्हीं महोदय ने पश्चिमी विशेषताओं का समाधान यह कह कर किया कि उज्जैन आदि किसी पश्चिमी प्रांत के अर्धमागधी रूप को ही पालि कहना चाहिए। गाइगर महोदय का भी मत है कि पालि अर्ध-मागधी का ही कोई रूप है।

ओल्डेनबर्ग तथा ई० मूलर महोदयों का मत था कि पालि पूर्वीय भारत से सिंहलद्वीप पहुँची और इसी कारण विशेष रूप से, तथा पालि भाषा की तुलना उड़ीसा प्रदेश के खारवेल के लेख से कर के, उन दोनों का मत था

कि पालि भाषा उड़ीसा प्रदेश की भाषा रही होगी।

कुह्न् महोदय ने इस मत के आधार पर कि सिंहलद्वीप में बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के पुत्र (अथवा पौत्र) महेंद्र के द्वारा हुआ जो उज्जैन से गए थे, उज्जैन को ही पालि भाषा का स्थान बताया था। पीछे से फ़्रांके महोदय ने पालि की तुलना अशोक के शिलालेखों और स्तंभलेखों की भाषा से की। इन लेखों की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चला कि भिन्न भिन्न प्रांतों में पाए जाने वाले लेखों की अलग अलग विशेषताएँ हैं और इस प्रकार पूर्वी, पश्चिमी आदि तोन चार प्रकार की बोलियाँ इन लेखों में पाई जाती हैं। फ़्रांके के मत के अनुसार पालि कोई पश्चिमो बोली थी और संभव है कि वह उज्जैन की रही हो।

इन विभिन्न मतों में से कौन सा मत ग्रहण करना चाहिए? पालि के दो चार ग्रंथ पढ़ने से ही पता चल जाता है कि इस में यत्र-तत्र कई बोलियों का संमिश्रण है। तथापि इस के मूल में कोई भाषा अवश्य है, बोलियों की विशेषताएँ अपवाद स्वरूप हैं। यह मूलस्थित भाषा कौन है? गाइगर के मत से यह अर्धमागधी है पर अर्धमागधी की सब से बड़ी विशेषता अकारांत संज्ञाओं के प्रथमा एकवचन का एकारांत रूप (*देवे, नरे* आदि) पालि में अपवाद स्वरूप ही मिलते हैं; नियम से ओकारान्त रूप (*देवो, नरो* आदि) ही पाए जाते हैं। अर्धमागधी (विशेष रूप से जैन अर्धमागधी) के द्वितीया बहुवचन के पुंलिंग के रूप नपुंसकलिंग के समान (*पुत्तकानि, वेदानि*) होते थे। यह बात भी पालि में अपवाद स्वरूप ही पाई जाती है, नियम से एकारांत रूप (*पुत्तके, वेदे*) ही मिलते हैं।

अभी कुछ ही वर्ष हुए प्रोफ़ेसर ल्यूडर्ज़् को, अश्वघोष के, प्राकृतों में लिखे, कुछ नाटकों के जीर्ण-शीर्ण पन्ने मिले हैं, जिन की अर्धमागधी की विशेषताएँ, प्राय: एकारांत प्रथमा एकवचन का रूप, *र* के स्थान में *ल्* स्वरों के बीच में न्, न ञ् न ण्, यह पाई जाती हैं। इस हिसाब से पालि की मूलभाषा अर्धमागधी नहीं। ल्यूडर्ज़् महोदय का मत है कि संभव है कि प्राचीन बौद्ध

ग्रंथ अर्धमागधी में रहे हों, जिन का बाद को किसी पश्चिमी साहित्यिक बोली में संस्करण किया गया हो।

धर्म-ग्रंथों का संस्करण होना कोई असंभव बात नहीं। जैन धर्म-ग्रंथों का इसी प्रकार एक संस्करण ईसवी पाँचवीं शताब्दी में देवर्द्धि गणी ने किया था। संभव है कि प्राचीन बौद्ध ग्रंथ भी जैन ग्रंथों की तरह अर्धमागधी में ही रहे हों। महावीर और बुद्ध दोनों अर्धमागध प्रदेश के निवासी थे। दोनों ने संस्कृत का वहिष्कार करके जनसाधारण के समझने योग्य भाषाओं में अपने अपने धर्म का प्रचार किया। इसी अर्धमागधी से कालांतर की साहित्यिक भाषा (उस समय की शौरसेनी के किसी रूप) में अनुवाद किया गया, यही मत उपयुक्त जान पड़ता है।

इस मत के साथ अन्य मतों का थोड़ा बहुत समाधान किया जा सकता है। पालि को अर्धमागधी या उस की बड़ी बहिन कोसली कहना युक्तिसंगत नहीं पर आदि धर्मग्रंथ इस अर्धमागधी में रहे होंगे, यह संभव है। सिंहलवासी इस को मागधी संभवतः इस कारण से ही कहते होंगे कि मगध प्रदेश से बुद्ध भगवान का बहुत संबंध रहा था अथवा इस कारण से कि उन के मत के अनुसार मगध के राजा अशोक के पुत्र महेंद्र द्वारा यह धर्म-पुस्तकें उन के यहाँ पहुँचीं। इस साहित्यिक भाषा पर पैशाची आदि बोलियों का भी प्रभाव पड़ा होगा।

अर्धमागधी से इस पालि भाषा में यह धर्मग्रंथ कब परिवर्तित अथवा अनुवादित हुए, इस के विषय में निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। सिंहलद्वीप के ऐतिहासिक बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख आता है कि अशोक के समय में तृतीय बौद्ध संगीति हुई, पर इस का कोई प्रमाण अशोक के लेखों से नहीं मिलता। यह भी संदिग्ध ही है कि अशोक के समय में इन पालि ग्रंथों का प्रचार भी था। यदि उस के समय की यह साहित्यिक भाषा थी तो उस सम्राट् ने अपने लेखों में अर्धमागधी मूलभाषा का प्रयोग क्यों कराया? अथवा अर्धमागधी के रहते हुए पालि में परिवर्तन की क्या आवश्यकता पड़ी?

ध्वनियों के हिसाब से भी पालि अशोक की प्राकृतों से पुरानी नहीं

मालूम पड़ती। अशोक के उत्तर-पश्चिमी लेखों में संयुक्ताक्षर ष्ट, त्म तथा श्, ष्, स् तीनों ऊष्म-वर्ण पाए जाते हैं पर पालि में नहीं। पालि में यत्र-तत्र दो वर्णों के बीच का स्पर्श-वर्ण अघोष न होकर घोषवत् मिलता है, जैसे *अग्गाळवी* (सं० *अग्राटवी*) और कहीं कहीं प्राकृतों की भाँति उस का लोप भी हो जाता है, यथा *कुसिनारा* (सं० *कुशी-नगर*)। प्रायः यह बात स्थानों के नामों में विशेष रूप से है। इस से अनुमान होता है कि पालि सचमुच उतनी पुरानी भाषा नहीं है जितनी कि पहली बार देखने से जान पड़ती है। इन्हीं सब बातों का विचार कर, विद्वानों का मत है कि पालि भाषा ईसा के पूर्व के दो-सौ वर्षों से पुरानी नहीं हो सकती।

भारत के उस समय के इतिहास आदि पर अभी पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ा है, इस लिए पूर्ण विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि उस समय शौरसेनी के प्रदेश में उस की कोई बड़ी बहिन इतनी प्रभावशालिनी थी अथवा नहीं, जिस में बौद्धों को अपने धर्मग्रंथों के अनुवाद करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पर ऐसा संभव अवश्य है। इसी प्रदेश से किसी समय साहित्यिक संस्कृत का प्रसार हुआ, फिर शौरसेनी प्राकृत का। इसी प्रदेश की भाषा हिंदी आज भारत की सब से अधिक महत्वशील भाषा है।

सूचना—इस विषय के अध्ययन के लिए नीचे लिखे ग्रंथ तथा लेख देखने चाहिए:—

फ़्रांके—पालि और संस्कृत (जर्मन)

गाइगर—पालि भाषा व साहित्य (जर्मन)

रीज़ डेविड्ज़्—पालि-अँगरेज़ी कोष (भूमिका मात्र)

चाइल्डर्ज़्—पालि कोष (भूमिका मात्र)

कीथ—पालि—दक्षिणी बौद्धों की भाषा (इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, १९२६)

‘विनयपत्रिका’ में सुरक्षित तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार

[लेखक—श्रीयुत माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

तुलसीदास के आध्यात्मिक विश्वासों का कुछ न कुछ परिचय तो उन की प्रत्येक रचना से मिल सकता है, किंतु उन का जितना यथातथ्य, स्पष्ट और बहुत कुछ पूर्ण परिचय हमें ‘विनय-पत्रिका’ के पदों से मिल सकता है उतना कदाचित् अन्य रचनाओं में से किसी से नहीं। इस का कारण भी प्रकट ही है। ‘विनय-पत्रिका’ के पदों में कवि ने बड़ी ही तन्मयता और आत्म-विस्मृति के साथ अपने समस्त उद्‌गारों को व्यक्त किया है। फिर भी, हम ने अभी तक इन पदों का इस संबंध में केवल इतना उपयोग किया है कि विशेषतः ‘रामचरितमानस’ के आधार पर तुलसीदास के दार्शनिक विचारों का विवेचन करते हुए एकाध स्थल पर ‘विनय’ के इन पदों के कुछ अंश उद्‌धृत कर देने की उदारता दिखाई है। फलतः, लेखक प्रस्तुत निबंध में केवल इन पदों में व्यक्त, कवि के आध्यात्मिक विश्वासों का यथा-शक्ति उसी के शब्दों में उल्लेख करने का प्रयास कर रहा है और आशा करता है कि विद्वानों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित होगा।

‘अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी’ ॥१२१॥

हमारे आध्यात्मिक विश्वासों का प्रारंभ इसी अनुभव से होता है, कि साधारण दृष्टि से देखने पर जिस संसार को हम रमणीय समझते हैं, परिणाम में वह बड़ा ही भयंकर है—जिसे हम सुखप्रद समझते हैं, विचार करने पर वही निस्सार निकलता है—तृषार्त हो कर हम जल की खोज में निकलते हैं किंतु हमें मिलती है मृग-मरीचिका मात्र। इसी से हम और भी दुखित होते हैं—

मैं तोहिं अब जान्यों संसार !
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किए बिचार ।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार ।
महा मोह मृग-जल सरिता महँ बोर्यो हौं बारहि बार ॥१८८॥

यह रचना देखने में तो अत्यंत विचित्र है, यद्यपि परिणाम में बड़ी भयानक है। किंतु, स्वतः यह सत्य है या असत्य या अंशतः सत्य और अंशतः असत्य यह कहना कठिन है। तुलसीदास तो इन तीनों विचारों को भ्रम मात्र मानता है—

केसव, कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए ॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माँहीं ।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥१११॥

किंतु, इस संसार के हमारे लिए भयानक होने का कारण हमारा ही भ्रम अथवा अविवेक है, इस में संदेह नहीं—

हे हरि यह भ्रम की अधिकाई ।
देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई ॥
जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाइ मृग बारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेखे ॥
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै ॥१२१॥

अर्थ अविद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं ।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस पर्यो कीर की नाईं ॥
सपने व्याधि विविधि बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद्य अनेक उपाय करहिं जागे बिनु पीर न जाई ॥
सपने नृप कहँ घटै बिप्र बध बिकल फिरै अघ लागे ।
बाजि मेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होय बिनु जागे ॥
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अबिचारे ।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहि मरै न मारे ॥
निज भ्रम तें रबिकर संभव सागर अति भय उपजावै ।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ॥१२२॥

रस्सी को देख कर हमें सर्प का भ्रम होता है और हम भयभीत होते हैं, इस भय को दूर करने के दो उपाय हो सकते हैं—या तो रस्सी हमारे सामने से हट जावे या हमीं अपनी चेतना को सँभालें। पहले की अपेक्षा दूसरे उपाय का प्रयोग ही अधिक श्रेयस्कर होगा, क्योंकि बिना किसी स्थूल आधार के भी भ्रम का अस्तित्व संभव है, जैसे स्वप्न में हम समुद्र में डूबने की यातना का अनुभव करें—यहाँ पर रस्सी की भाँति कोई स्थूल-आधार नहीं है। फलतः संसार-त्याग अथवा कर्म-सन्यास की विशेष आवश्यकता नहीं है, वास्तविक आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी चेतना को जाग्रत करें। जो दुःख हम उठा रहे हैं, वह हमारे ही मन की मूढ़ता के कारण है। इसी मूढ़ मन के बहँकावे में आकर अनेक जन्म तक हम अपना दुःख रोते रहे ! अभी तक हम ने किया ही क्या ? कर्मों में आसक्त होकर उन के कीचड़ में हम अपनी चेतना को जो लिप्त करते रहे हैं, कहीं इस से भी वह निर्मल हो सकती है ?

मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।
याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो ।
बहु भाँतिन स्रम करत मोह बस बृथहिं मंदमति बारि बिलोयो ॥

करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकाश निचोयो॥
तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।
डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो॥२४५॥

इंद्रियों के विषयों में दिन रात भटकते हुए मेरे मन ने कभी विश्राम नहीं किया। यद्यपि इस बीच उसे दुःखों का ही सामना करना पड़ा फिर भी वह जान-बूझ कर उन से विरत न हुआ—अब तक तो चित्त को वह कर्म-कीच में ही लिप्त करता रहा और उसे निर्मल करने की शक्ति जिस में है, उस विवेक-नीर को प्राप्ति का उस ने तनिक भी उद्योग नहीं किया—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो॥
जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानत हूँ नहि जान्यो॥
जनम अनेक किए नाना विधि करमकीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥८८॥

यह कहना तो सरल है कि मन को शुद्ध कर लेने से ही सारा काम बन जाएगा, किंतु इस को व्यवहार में लाना दुस्साध्य है क्योंकि मन हमारे कहने में नहीं आता। यदि वह हमारा कहना ही मानता तो हम यह दुर्गति ही क्यों भोगते ? उस को तो हम रात दिन अनेक शिक्षाएँ देते हैं, फिर भी वह अपना कुटिल स्वभाव नहीं छोड़ता है—

मेरो मन हरि हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै॥
ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥

लोलुप भ्रम गृहपशु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्‌यो करि जतन बिबिधि बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥८९॥

इसी मन के लिए भक्ति, ज्ञान और वैराग्य आदि कितने ही साधन हम ने इकट्ठे किए, किंतु तब भी इस ने अपने अहम्मन्यत्व और लोभ को न छोड़ा—

हे हरि कवन जतन भ्रम भागै।
देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहै देउ कछु कोऊ असि बासना न उर तें जाई॥११९॥

विचित्र हैं इस के आचरण भी; कभी तो यह दीन बना रहता है और कभी अभिमानी राजा बन बैठता है, कभी तो निरा मूर्ख बनता है फिर कभी धर्मात्मा पंडित होने का स्वांग करता है—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिधि ज्वर करत फिरत बौराई॥
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंब रत कबहुँ धरम रत ज्ञानी॥८१॥

जिन इंद्रियों के द्वारा हमारा मन अनेक दुष्कर्मों में अब तक लिप्त रहा, उन्हीं से यदि वह चाहता तो कितने ही शुभ अनुष्ठान कर सकता था। किंतु वह सब उस ने कुछ नहीं किया—

यों मन कबहुँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग निर्मल गुनगन रघुबर के॥

ज्यों नासा सुगंध रस बस रसना षट रस रतिमानी।
रामप्रसाद माल जूँठनि लगि त्यों न ललकि ललचानी॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति पद पदुम परस को तनु पातकी न तरस्यो॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेए वपु बचन हिए हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
राम-सीय आस्रमनि चलत त्यों भए न श्रमित अभागे॥१७०॥

मन की शुद्धि के लिए यों तो जप, तप, तीर्थ, योग और समाधि आदि अनेक साधन पुराणों और श्रुतियों में वर्णित हैं किंतु प्रबल कलिकाल ने उन सब की शक्ति का ह्रास कर दिया है। फलतः इस कलिकाल में हमारे भ्रम का नाश एक हरि-कृपा से ही संभव है—

जप तप तीरथ जोग समाधी।
कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥
हरनि एक अघ असुर जालिका।
तुलसिदास प्रभु कृपा कालिका॥१२८॥

माया, मोह, अथवा भ्रम का संयोग इस जीव के साथ केवल ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है इसीलिए उस माया का नाश भी ईश्वर की कृपा से ही संभव है—

दोष निलय यह विषय सोकप्रद कहत संत स्रुति टेरे।
जानत हूँ अनुराग तहाँ हरि सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे॥१८६॥

हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥१०२॥

सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास यह मोह संृखला छुटिहि तुम्हारे छोरे ॥११४॥

हे हरि कस न रहहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१२०॥

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया ॥१२३॥

संक्षेप में, हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि बिना हरि-कृपा के हमारे भ्रम का नाश असंभव है—

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित दारुन भव बिपति सतावै ॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै ॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस पर्‌यो जानि देखत केहि जागि निहोरै ॥
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥११६॥

इस प्रकार, क्रमशः हम यह देखते हैं कि संसार दुःखमय है। दुःख का कारण हमारा ही भ्रम है। भ्रम के नाश के लिए संसार-त्याग या कर्म-सन्यास नितांत आवश्यक नहीं। यदि अपना मन ही समस्त विकारों को छोड़ कर अपने सहज-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले तो हमारे भ्रम का स्वतः नाश हो जाए और पुनः वही संसार सुखमय हो जाए। किंतु अपने सहज-स्वरूप का ज्ञान तो सरल नहीं है क्योंकि हमारा मन स्वभावतः ऐसे कर्मों में आसक्त रहा करता है कि वह और भी विकार-ग्रस्त होता जाता है—फलतः इस की

शुद्धि और भ्रम का नाश हरि-कृपा से ही संभव है। कारण यह है कि जिस की प्रेरणा से माया ने इस जीव को आच्छादित कर लिया है, उसी के कहने से वह उसे छोड़ भी सकती है, अन्य साधन भी इस भ्रम के नाश के लिए श्रुतियों और पुराणों में कहे गए हैं। किंतु कलिकाल के आतंक से वे सभी निर्बल हो गए हैं। केवल एक साधन शेष रहता है, वह है राम के चरणों में अनुरक्ति। बिना इस अलौकिक जल के हमारे जन्मों का मल दूर नहीं हो सकता—

मोह जनित मल लाग बिबिधि बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।
राम-चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥८२॥

यदि हम बिना योग, यज्ञ, तप आदि के संसार से मुक्त होना चाहते हैं तो बस यही करना है कि दिन-रात राम के चरणों का चिंतन करते रहें—

जो बिनु जोग जज्ञ ब्रत संजम गयो चहत भव पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरि पद कमल बिसारहि॥८५॥

अन्य साधनों की अपेक्षा भक्ति का मार्ग बहुत सीधा है। निरे ज्ञान से यदि हम आत्म-परिचय चाहते हैं तो बड़ा समय लगेगा—

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिद्-विलास जग बूझत बूझत बूझै॥१२४॥

तुलसीदास को तो कोई दूसरा भरोसा नहीं दिखाई पड़ता, दूसरे लोग चाहे जो करें। तुलसीदास का कहना है कि उन के कर्मों का फल जब उन्हें मिल जाएगा तभी वे मेरे कथन की सत्यता पर विश्वास करेंगे। मेरे गुरु ने तो अनेक मतों को सुन कर, अनेक पंथों और पुराणों का अध्ययन करने

के अनंतर, और सभी झगड़ों का निर्णय करके मुझ को राम की भक्ति का उपदेश किया। वही मुझे राजमार्ग सा लगता है।

नाहिंन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करमफल भरिभरि वेद परो सो॥
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥
बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहिं लगत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीत प्रीति फिर फिर पचि मरै मरो सो।
रामनाम बोहित भव सागर चाहै तरन तरो सो॥१७३॥

किंतु रघुपति-भक्ति कहने ही को सरल है, उस का निर्वाह अत्यंत कठिन है, विरले ही व्यक्तियों को उस का अनुभव है। उस के लिए हमें द्वैत-भावना का सर्वथा त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि बिना इस द्वन्द्व-त्याग के हम राम के चरणों में उत्पन्न उस अलौकिक सुख का न तो अनुभव कर सकते हैं और न हमारे भ्रम का नाश होता है—

रघुपति भक्ति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥

सोक मोह भय हरष दिवस निसि देसकाल तहँ नाहीं ।
तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥१६७॥

यदि हम अपने मन को इंद्रियों के विषयों से खींच कर राम के चरणों में स्थापित कर सकें तभी हमारी भक्ति दृढ़ हो सकती है, किंतु यह भी तभी संभव है जब हमारी दस इंद्रियों के प्रतीक रूप दशानन के नाश करने वाले राम करुणा से द्रवित हों—

सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस ।
तुलसिदास यह होहि तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हतो सीस दस ॥२०४॥

इतनी करुणा की पूँजी प्राप्त करना कठिन नहीं है, उस के लिए बस इतना ही चाहिए कि राम के मन में यह बात आ जाए कि हम उन से प्रेम करते हैं। हमें अपने कर्मों की अच्छाई बुराई अथवा संस्कारों के दूषित होने की चिंता न करनी चाहिए। नीचों से उन के प्रेम का आभास मात्र पा जाने पर प्रेम करना रघुवीर की साधारण 'बानि' है—

श्री रघुबीर की यह बानि ।
नीचहूँ सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि ॥
परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि ।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि ॥
गीध कौन दयालु जो विधि रच्यो हिंसा सानि ।
जनक ज्यों रघुनाथ ता कहँ दियो जल निज पानि ॥
प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि ।
खात ताके दिए फल अति रुचि बखानि बखानि ॥
रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि ।
भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि ॥
कौन सुभग सुशील बानर जिनहिं सुमिरत हानि ।
किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि ॥
राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि ।
भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि ॥२१५॥

और, यदि कोई व्यक्ति उन का दास हो जाता है तो वे स्वयं उसी के वश में हो जाते हैं, राम की यह पुरानी रीति है—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती ।
निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीती ॥
जिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी ।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति बाँध्यो हठि सकत न छोरी ॥
जाकी माया बस बिरंचि शिव नाचत पार न पायो ।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन तेहि नाच नचायो ॥
विश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद विदित यह लीख ।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख ॥
जाको नाम लिए छूटत भव जनम मरन दुख भार ।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यौ दस बार ॥
जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी ।
बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी ॥
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी ।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी ॥९८॥

राम तो अकेले प्रीति का नाता रखते हैं और उस के आगे अन्य सभी नातों को नोचा मानते हैं। उन के स्नेह और शील-स्वभाव से यदि हम भली भाँति परिचित हो जावें तो हम स्वतः उन के भक्त हो जावेंगे—

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई ॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई ।
रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई ॥
घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥

सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई ॥
प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ।
तेरो रिनी हौं कह्यो कपीस सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥
तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई ।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई ॥१६४॥

राम की भाँति हमें अन्य स्वामी नहीं मिल सकता। प्रेम करने वाले से कौन कहे, द्रोह करने वाले से भी वे स्वयं प्रेम ही करते हैं, दूसरा ऐसा स्वामी हमें कहाँ मिलेगा ?

ऐसी कौन प्रभु की रीति ।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादव राइ ॥
काम-मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत पिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह ॥
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आप में हरि राज सभा मँझारि ॥
व्याध चित दै चरन मारयो मूढ़ मति मृग जानि ।
सो सदेह सुलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥
कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥२१४॥

फलतः, जब हम राम के संपूर्ण कृत्यों का अनुशीलन करते हैं, तो एक विशेषता हमें समान रूप से सर्वत्र मिलती है—वह है उन का शील स्वभाव। बचपन से लेकर राज्यारोहण तक उन का छोटे से छोटा से ले कर बड़े से बड़ा कार्य इसी से ओत-प्रोत है, इस लिए यदि हम इस शील को ध्यान में रखते हुए राम को गुण-गाथा का मनन करें तो निसंदेह हमारे चित्त में स्वतः राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होगा और इसी अनुराग की वृद्धि से हमें अनायास ही

उन के प्रेम का प्रसाद भी प्राप्त हो जाएगा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ ।
कहत राम बिधु बदन रिसोहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥
सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिताउ ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
छमि अपराध छमाइ पाँइ परि इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े कह्यो पवनसुत आउ ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन तिन न तज्यो छल छाउ ।
भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥
समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसिदास अनयास राम पद पाइहै प्रेम पसाउ ॥१००॥

राम की गुन-गाथा के मनन के अतिरिक्त उन की कृपा-प्राप्ति का एक अन्य सहयोगी उपाय भी है—वह है नाम-स्मरण । राम-नाम के जप से हृदय की ज्वाला शांत होती है । कर्म तथा ज्ञान के साधन कलिकाल की करालता से शक्तिहीन हो गए हैं, इसीलिए काशी में मरते हुए व्यक्ति को शिव भी उस के मुक्ति के लिए इसी मंत्र का उपदेश किया करते हैं । यदि केवल हम नाम-स्मरण का ही अवलंब लें तो भी राम स्वतः हमारे ऊपर कृपालु हो जाएँगे—

राम नाम के जपे जाइ जिय की जरनि ।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए जैसे तम नासिबे को चित्र के तरनि ॥
करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि ।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदर भरनि ॥
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान वचन बिसेष वेष कहूँ न करनि ।
कपट कुपथ कोटि कहनि रहनि खोटि सकल सराहैं निज निज आचरनि ॥
मरत महेश उपदेश हैं कहा करत सुरसरि तीर कासी धरम धरनि ।
राम नाम को प्रताप हर कहैं जपैं आपु जुग जुग जाने जग बेदहूँ बरनि ॥
मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनाम ही की बिपति हरनि ।
राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरैंगे राम आपनी ढरनि ॥१८४॥

ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिस को रक्षा राम ने अपने नाम की लज्जा रखने के लिए न की हो। इसी विश्वास से तुलसीदास कितने ही कष्टों को झेलता हुआ भी अपना हठ नहीं छोड़ता है। कभी न कभी तो उस की प्रार्थना सुनी जाएगी—

सो धौं को जो नाम लाज तें नहीं राख्यो रघुबीर ।
कारुनीक बिनु कारन ही हरि हरौ सकल भव पीर ॥
बेद बिदित जग बिदित अजामिल बिप्र बंधु अघधाम ।
घोर जमालय जात निवारयो सुत हित सुमिरत नाम ॥
पसु पाँवर अभिमान सिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह ।
सुमिरत सकृत सपदि आए प्रभु हर्यो दुसह उरदाह ॥
व्याध निषाद गीध गनिकादिक अगनित अवगुन मूल ।
नाम ओट तें राम सबनि की दूर करी सब सूल ॥
केहि आचरन घाटि हौं तिन्हते रघुकुल भूषन भूप ।
सीदत तुलसिदास निसि बासर परयो भीमतम कूप ॥१४४॥

दूसरों को जिस पर विश्वास हो वे उस का भरोसा करें, तुलसीदास को तो इस कलिकाल में नाम का कल्याण-कल्प-तरु मिल गया है। कर्म, ज्ञान और उपासना आदि सभी मार्ग वेदों से प्रमाणित हैं, किंतु तुलसीदास को तो सावन

के अंधे को तरह नाम ही को हरियाली सूझती है। कभी वह कुत्तों की तरह क्षुधा-तृप्ति के लिए पत्तलें चाटता फिरता था, आज वही नाम-स्मरण मात्र से अपने सामने अमृत परसा हुआ देख रहा है। जिस का जिस से प्रेम हो वह उस से करे किंतु तुलसीदास तो अपने माता-पिता-स्वरूप नाम के दो अक्षरों से बच्चे की भाँति हठ कर रहा है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परुसि धरो॥
स्वारथ औ परमारथ हू को नहिं कुंजरो नरो।
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥
प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।
मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु-अरनि अरो॥
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि तें तुलसिहिं समुझि परो॥२२६॥

किंतु, नाम से भी हमारी साधारण लगन न होनी चाहिए, उस से तो हमारी वैसी ही दृढ़ लगन होनी चाहिए जैसी चातक को नवीन मेघ से होती है। बादल गरज कर, कड़क कर, और वज्र की वर्षा कर भी पपीहे के प्रेम की परीक्षा करता है, किंतु इन सब कठिनाइयों से उस के हृदय में अधिकाधिक अनुराग ही उमँगा करता है। हमें भी यही उचित है कि हम पपीहे का अनुकरण करते हुए उसी दुर्गम एकांगी प्रेम-मार्ग के पथिक बनें और इस की तनिक भी चिंता न करें कि हमारा प्रेम-पात्र भी हम से प्रेम करता है। हमारा हित तो इसी बात में है कि हम अपनी ओर से अविचलित-चित्त हो कर इस नियम का पालन करते जावें—

राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा।
राम नाम नवनेह मेह को मन हठ होहि पपीहा॥
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा॥
गरजि तरजि पाषान बरसि पवि प्रीति परखि जिय जाने।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचाने॥
राम नाम गति रामनाम मति राम नाम अनुरागी।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़ भागी॥
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहें।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें॥६५॥

नाम-स्मरण के अतिरिक्त राम-भक्ति का एक अन्य सहयोगी मार्ग भी है—वह है राम के दरवाज़े पर बैठ यही याचना करना कि हमें और कुछ भी नहीं चाहिए, हम केवल उन की भक्ति के भूखे हैं। यह भूख भी तो कुछ इसी जन्म की नहीं, न जाने कितने जन्मों की है। कई जन्मों के अनंतर तो साधन-धाम यह मानव-देह प्राप्त हुआ, यदि इस देह से भी यह असाधारण क्षुधा न मिट सकी तो आगे न जाने कितने जन्मों तक भूखा ही रह जाना पड़ेगा। इसी विचार से कवि कैसी हृदय-द्रावक प्रार्थना करता है!

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन मन ऊँच जैसी कोढ़ में की खाज॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहुँ से कोउ कतहुँ कहुँ तिन्ह कह्यो कोसलराज॥
दीनता दारिद दलै को कृपा बारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के बानइत सिरताज॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब नेवाज।
पेट भरि तुलसिहि जेवाँइय भगति सुधा सुनाज॥२१९॥

भगवन्, आप ही बताइए दूसरा 'दीनबंधु' मुझे कहाँ मिलेगा, मैं तो जिसी के विषय में अपना ध्यान दौड़ाता हूँ, वही मुझे अयोग्य या अकृपालु दिखाई पड़ता है। मैं ने माना कि मैं अपने मुख से ही आप का सेवक बनता हुआ भी लालची और कामी हूँ, किंतु कुछ अधिक तो आप से माँगता भी नहीं। मेरी याचना तो बस इतने ही के लिए है कि मुझे आप अपने द्वार पर पड़ा रहने दें और अपने गुणों का कीर्तन करते रहने दें—

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गवावों॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौं बातन जलधि थहावों।
अति लालची काम-किंकर मन मुख रावरो कहावों॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों॥२३२॥

भगवन्, यदि आप यह समझते हों कि यह अन्यत्र कहीं नहीं गया और सीधा मेरे ही पास आ रहा है तो आप का यह अनुमान ठीक नहीं है। मैं ने तो कोई भी ऐसा दरवाज़ा न होगा जिस को न खटखटाया हो, ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिस के आगे शीश न झुकाया हो और अपना क्षुधार्त पेट न 'खलाया' हो। चारों ओर सिर मार कर ही अंत में आप को शरण में आया हूँ। बड़ी दूर से आप का यश सुन कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। तुलसीदास को आश्वासन दीजिए—

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहुँ दिसि पायो॥
आस बिवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो॥
असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रियप्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो॥

नाथ हाथ कुछ नाहिं लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति तायो।
मूड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो॥
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो।
तुलसी नमत अवलोकिए बलि बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो॥२७६॥

मेरा और कौन है ? किस से कहूँगा ? सब प्रकार की यातनाएँ झेलूँगा किंतु अपने मन को उच्च आकांक्षाओं को किस को सुना कर सुख लाभ करूँगा ? मुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि फलों की तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि आप की बाल-क्रीड़ा के लिए खग, मृग, तरु, किंकर होकर आप का प्रीति-पात्र बना रहूँ। इसी नाते मुझे नरक में भी सुख मिलेगा और इस के बिना स्वर्ग भी मुझे दुखदायी होगा; इस दास के हृदय में इसी की इतनी लालसा है। वह आप की जूती उठा कर कहता है कि या तो आप स्पष्ट वचन दीजिए अन्यथा अपने हृदय में लिख लीजिए कि 'तुलसी के इस प्रण का निर्वाह करूँगा।'

और मोहिं को है काहि कहिहौं।
रंक राज ज्यों मन को मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं॥
जम जातना जोनिसंकट सब सहे दुसह औ सहिहौं।
मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥
इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहि हौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसी को पन निर्बहिहौं॥२३१॥

कवि ने ऊपर दिखाए गए राम-भक्ति के तीन प्रमुख साधनों—शील-स्वभाव चिंतन, नाम-स्मरण और आर्त-निवेदन—का महत्व एक ही पद में इस प्रकार कहा है—

स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनि है।
सोच सकल मिटिहैं राम भलो मानिहै॥
भलो मानिहै रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥
जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिए।
बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए॥१३५॥

ऊपर के उपदेशों को अन्यत्र पुनः कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु।
'पाहि कृपानिधि!' प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु॥
बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान।
सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसहि ज्ञान॥
का सेवा सुग्रीव की का प्रीति रीति निरबाहु।
जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु॥
जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु।
सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपालु नतपालु॥
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर।
गावत गुन गन राम के केहि की न मिटी भव भीर॥
प्रभु कृतज्ञ सरवज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि।
तुलसी तो सों राम सों कछु नई न जान पहिचानि॥१९३॥

राम-भक्ति का एक अन्य अनिवार्य अंग सत्संग है, किंतु संतों का संग भी हरिकृपा से ही होता है। फलतः इस उद्देश्य से भी कवि ने भगवान का गुण-गान किया है—

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी।
सो भय ताप सोक त्रय हारी।
बिनु सतसंग भगति नहिं होई।
ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए।
　　　　जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए॥
जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए।
　　　　मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए॥

सेवत साधु द्वैत भय भागे।
　　　　श्री रघुबीर चरन चित लागे॥
देह जनित विकार सब त्यागे।
　　　　तब फिर निज स्वरूप अनुरागे॥

अनुराग सो निज रूप जो जग तें बिलच्छन देखिए।
　　　　संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न देखिए॥
निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न व्यापई।
　　　　त्रैलोक्य पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥

जो तेहि पंथ चलै मन लाई।
　　　　तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग श्रुति साधु बतावैं।
　　　　तेहि पथ चलत सबे सुख पावैं॥

पावै सदा सुख हरि कृपा संसार-आसा तजि रहै।
　　　　सपनेहुँ नहीं दुख देत दरसन बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरुहरि संत बिनु संसार पार न पावई।
　　　　यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गावई॥१२६॥

साधु-संगति का ही दूसरा पक्ष असाधु से असहयोग है। इसीलिए तुलसीदास अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध पद में कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति से सर्वथा असहयोग ही करना होगा, जिसे सीताराम प्रिय न हों—वह व्यक्ति चाहे पिता, भाई, माता, गुरु, स्वामी या कोई भी क्यों न हो—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूँजी प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो॥१७४॥

भक्ति-मार्ग के विविध अंगों का एक पद में पूर्ण संकलन करते हुए तुलसीदास ने ज्ञान-मार्ग के भी कुछ अंगों के साथ उन का विचित्र समन्वय इस प्रकार किया है—

जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु।
तौ तजि विषय बिकार सार भजु अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम संतोष विचार बिमल अति सत संगति ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा समुद्र हरि अगजग रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥

कवि ने अपने लिए जीवन का जो आदर्श निर्मित किया है उस के उल्लेख के बिना लेख अधूरा ही रह जाएगा। नीचे का पद इसी अभिप्राय से दिया जा रहा है। उस के इन थोड़े से शब्दों में उस के कुल आध्यात्मिक संदेशों का सार कितनी सजीवता के साथ आगया है!

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन नहिं दोष कहौंगो॥

परिहरि देह जनित चिंता सब दुख सुख समबुद्धि रहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो ॥१७२॥

अविचल हरि-भक्ति-लाभ का यह कितना अनुकरणीय पथ है! ऐसे विचार-शील और निरंतर परहित-निरत व्यक्ति के लिए तो संसार की सभी अनिष्टकारी शक्तियाँ भी स्वतः आनन्ददायिनी सिद्ध होंगी इस में संदेह नहीं। कवि के ही शब्दों में पुनः—

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिबेक ते व्यवहारी सुखकारी ॥१२१॥

सूरसागर और भागवत

[लेखक—श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०]

लोगों की प्रायः यह धारणा है कि सूरसागर भागवत का यदि अनुवाद नहीं है तो स्वतंत्र उल्था अवश्य है। दोनों ग्रंथों की साधारण तुलना से इस विचार की पुष्टि भी होती है। भागवत और सूरसागर दोनों ही में बारह बारह स्कंध हैं तथा भिन्न भिन्न स्कंधों की कथा में भी पूर्ण साम्य है। उदाहरण के लिए दोनों ग्रंथों में नवम स्कंध में रामावतार का वर्णन है तथा दशम स्कंध में कृष्णावतार का। इसी प्रकार अन्य स्कंधों के कथानक में भी समानता मिलती है। फिर इस पक्ष की पुष्टि में सब से बड़ा तर्क यह दिया जा सकता है कि स्वयं सूरदास ने इस बात का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है:—

श्री मुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ ॥
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादश कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ ॥ स्कंध १, ११३।

इस प्रकार के वाह्य साम्य तथा अंतर्साक्ष्य के रहते हुए भी यदि सूरसागर तथा भागवत का विवेचन सूक्ष्म तुलनात्मक दृष्टि से किया जाय तो दोनों में समानताओं की अपेक्षा विभिन्नताओं की मात्रा अधिक दिखलाई पड़ती है।

संक्षेप में भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों तथा उन के द्वारा भगवान की अपरिमित शक्ति का वर्णन करना है। भागवत के प्रथम दो स्कंध भूमिका स्वरूप हैं। महाभारत की कथा का अंतिम अंश संक्षेप में देने के बाद परीक्षित ने किस प्रकार भागवत की कथा को शुकदेव से सुना इस का विस्तार, ग्रंथ के लक्षण आदि सहित, आदि के दो स्कंधों में मिलता है। तीसरे स्कंध से अवतारों का विवेचन प्रारंभ होता है

और आठवें स्कंध तक शूकर, ऋषभदेव, नृसिंह, वामन, मत्स्य आदि गौण अवतारों का वर्णन दिया गया है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है नवम स्कंध में राम तथा दशम स्कंध में कृष्ण अवतार का विस्तृत वर्णन है। एकादश और द्वादश स्कंधों में हंस तथा भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार का उल्लेख करते हुए परीक्षित और शुकदेव से संबंध रखने वाली मूल कथा का उपसंहार किया गया है।

भागवत तथा सूरसागर में वर्णित अवतारों की सूची तथा क्रम आदि में कोई भारी भेद नहीं है। कुछ गौण अन्तर अवश्य हैं। किंतु सब से पहला बड़ा भेद भगवान के भिन्न भिन्न अवतारों के महत्व के संबंध में है। भागवत में कृष्ण तथा राम अवतार प्रमुख अवश्य हैं और इन दोनों में भी कृष्ण अवतार सर्वोपरि है—उस का विस्तार भी सब से अधिक दिया गया है—किंतु अन्य अवतारों की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गई है। सूरसागर में कृष्ण अवतार ही सब कुछ है। राम अवतार के अतिरिक्त अन्य अवतारों का उल्लेख नाम-मात्र के लिए किया गया है। यह भेद नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जावेगा :—

भागवत		सूरसागर	
स्कंध	अध्याय संख्या	स्कंध	पद संख्या
१	१९	१	२१९
२	१०	२	३८
३	३३	३	१८
४	३१	४	१२
५	२६	५	४
६	१९	६	४
७	१५	७	८
८	२४	८	१४
९	२४	९	१७२

भागवत			सूरसागर	
स्कंध	अध्याय संख्या		स्कंध	पद संख्या
१० पूर्वार्द्ध	४९	९०	१० पूर्वार्द्ध	३४९४
उत्तरार्द्ध	४१		उत्तरार्द्ध	१३८
११	३१		११	६
१२	१३		१२	५
	३३५			४०३२

अर्थात् भागवत में ३३५ अध्यायों में से ९० अध्याय कृष्ण अवतार से संबंध रखने वाले हैं और सूरसागर में लगभग ४००० पदों में से ३६०० से अधिक पदों में कृष्ण-चरित्र का वर्णन है तथा शेष ४०० पदों में विनय आदि साधारण विषयों के अतिरिक्त शेष २३ अवतारों का उल्लेख है।

ऊपर की तालिका पर ध्यान देने से एक अन्य अंतर भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। भागवत तथा सूरसागर दोनों ही में दशम स्कंध दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में तब तक का कृष्ण-चरित्र मिलता है जब तक कृष्ण ब्रज अर्थात् गोकुल, वृंदाबन तथा मथुरा में थे। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण के मथुरा छोड़ कर द्वारिका जाकर बसने तथा उस के बाद की घटनाओं का वर्णन है। भागवत में कृष्णचरित्र पूर्वार्द्ध की कथा ९० में से ४९ अध्यायों में तथा उत्तरार्द्ध की कथा ४१ अध्यायों में दी गई है, किंतु सूरसागर में पूर्वार्द्ध की कथा लगभग ३५०० पदों में तथा उत्तरार्द्ध की कथा केवल १३८ पदों में मिलती है। इस का तात्पर्य यह है कि कृष्णचरित्र में से भी केवल ब्रजवासी कृष्ण सूरदास के लिए सब कुछ थे द्वारिकावासी राजनीतिज्ञ तथा योगिराज कृष्ण सूरसागर के रचयिता के लिए कुछ भी विशेष महत्व नहीं रखते थे।

इस तरह सूरसागर का प्राण दशम स्कंध पूर्वार्द्ध ब्रजवासी कृष्ण का चरित्र-चित्रण मात्र रह जाता है, किंतु यह चित्रण भी भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के चित्रण से बहुत भिन्न है। भागवत में पूतना, तथा वत्स, प्रलंब

आदि असुरों के संहार से संबंध रखने वाली अलौकिक लीलाओं के विस्तृत वर्णनों द्वारा भगवान की असुर-संहारिणी शक्ति को सामने लाकर उपस्थित किया गया है। सूरसागर में इन बाल-लीलाओं का बहुत संक्षेप में उल्लेख-मात्र मिलता है, और भगवान का बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था का आकर्षक सुंदर रूप तथा उन की राधा तथा गोपियों से संबंध रखने वाली प्रेमलीलायें पूर्ण विस्तार के साथ दी गई हैं। सूरसागर के इस मौलिक पद-समूह का वर्गीकरण प्रायः तीन शीर्षकों में किया जाता है—(१) वात्सल्य-रस-प्रधान अंश या बाललीला, (२) संयोग-शृंगार-प्रधान अंश अथवा राधाकृष्ण या गोपीकृष्णलीला, तथा (३) विप्रलंभ-शृंगार-प्रधान अंश अथवा गोपिका-विरह या भ्रमरगीत।

यहाँ यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भागवत में इन विषयों का विवेचन या तो विशेष मिलता ही नहीं है और यदि मिलता भी है तो बहुत संक्षेप में और भिन्न दृष्टिकोण के साथ। कृष्ण की बाललीला भागवत में केवल दो-तीन पृष्ठों में दी गई है, सूरसागर में यही बहुत विस्तार के साथ लगभग तीस पृष्ठों में मिलती है। सूरसागर में अन्नप्राशन, बरष-गाँठ, पाँव चलना, चाँद के लिए मचलना आदि अपने समाज के प्रत्येक बालक की बाल्यावस्था से संबंध रखने वाले अनेक नए विषयों का समावेश किया गया है; तथा मिट्टी खाना, माखनचोरी आदि भागवत में पाए जाने वाले विषयों का विशेष मौलिक विस्तार मिलता है। प्रेमलीला के संबंध में भागवत में केवल कृष्ण और गोपियों के प्रेम का वर्णन मिलता है। राधा का नाम भी भागवत में नहीं आया है। सूरसागर में राधा-कृष्ण के प्रेम का आरंभ, विकास तथा परिणाम बहुत ही सुंदर ढंग से तथा पूर्ण विस्तार के साथ वर्णित है। उद्धव-संदेश की कथा भागवत में है अवश्य, किंतु बिलकुल नीरस रूप में है। सूरसागर में गोपियों की विरहावस्था का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन है और इस के अतिरिक्त इस कथा का उपयोग निर्गुण उपासना तथा ज्ञान-कर्म मार्गों की अपेक्षा सगुण उपासना तथा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया गया है। इन मौलिक अंशों का विस्तार भी कम नहीं है। सूरसागर के

दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अधिकांश का विषय कृष्ण की इस नए दृष्टिकोण से की गई बाल तथा प्रेम-लीलायें ही हैं।

अब एक स्वाभाविक प्रश्न यह हो सकता है कि फिर सूरसागर का क्रम भागवत से इतना अधिक मिलता हुआ क्यों है तथा स्वयं सूरदास अपनी कृति को भागवत का 'भाषा' रूप क्यों कहते हैं? सूरसागर का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है। इस का मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारहों स्कंधों का अत्यंत *संक्षिप्त छन्दोबद्ध अनुवाद* मात्र है। यह वर्णनात्मक अंश काव्य की दृष्टि से अत्यंत असफल है तथा धार्मिक दृष्टि से भी कोई विशेष महत्व नहीं रखता। इसी अंश के कारण यह धोका होता है कि सूरसागर भागवत का उल्था है, किंतु वास्तव में यह अंश अत्यंत गौण है। भागवत के इस संक्षिप्त छंदोबद्ध अनुवाद में अनेक स्थलों पर कवि की तद्विषयक *मौलिक पदरचना* भी संगृहीत है। ये पदसमूह विशेषतया दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में मिलते हैं। ये अंश ही वास्तविक सूरसागर कहे जा सकते हैं। मौलिकता, रसात्मकता तथा धार्मिक विकास की दृष्टि से यह पदसमूह अत्यंत महत्वपूर्ण है। कवि की अन्य फुटकर रचनाएँ भी सूरसागर में अनेक स्थलों पर संगृहीत हैं। किन्हीं किन्हीं लीलाओं का वर्णन तीन-तीन चार-चार बार मिलता है। उदाहरण के लिए सूरसागर में तीन भ्रमरगीत मिलते हैं—पहला भागवत का उल्था है, दूसरा तद्विषयक मौलिक पदसमूह तथा तीसरा एक छोटा-सा छंदोबद्ध भ्रमर-गीत है, जो छंद आदि की दृष्टि से नंददास-कृत भँवरगीत का पूर्वरूप मालूम पड़ता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भागवत का आंशिक अनुवाद होने पर भी इस समय सूरसागर नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ का अधिक अंश कथानक तथा साहित्यिक और धार्मिक दृष्टिकोण से मौलिक है। इन मौलिक अंशों में प्रथम स्कंध के प्रारंभ में पाए जाने वाले विनय-संबंधी पद भी संमलित किए जा सकते हैं। यह अंश सूरदास की विनयपत्रिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। दासभाव की प्रधानता के कारण विनय-संबंधी अधिकांश पद-समूह

कदाचित् वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पहले कवि द्वारा लिखा गया हो, यह आश्चर्य नहीं। चौरासी वार्त्ता में इस अंश के कुछ पदों का निर्देश सूरदास तथा वल्लभाचार्य की भेंट के अवसर पर किया गया है। इन मुख्य मौलिक अंशों के अतिरिक्त छोटे-छोटे मौलिक पदसमूह ग्रंथ में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। विस्तार-भय से इन का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

मैथिली-साहित्य (१४००-१७६८)—
नेपाल केंद्र

[लेखक—श्रीयुत डाक्टर उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्० (इलाहाबाद)]

जिस काल का वर्णन इस लेख में किया जायगा उस में मैथिली भाषा के दो केंद्र थे। एक नेपाल, दूसरा मिथिला। नेपाल में किस प्रकार मैथिली की उन्नति हुई इस का दिग्दर्शन प्रस्तुत लेख में कराता हूँ।

'हिंदुस्तानी' के पिछले अंक में मैं बता चुका हूँ कि नेपाल में मैथिली भाषा की बड़ी उन्नति हुई और राजा से प्रजा तक सबों ने इसे बहुत अपनाया। इस भाषा में अनेक ग्रंथ भी लिखे गए। इस के अनेक कारण हैं—

(१) जैसा कि मानचित्र से ज्ञात हो सकता है, मिथिला और नेपाल की सीमा परस्पर संबद्ध है। यद्यपि इन दोनों प्रदेशों के बीच अनेक घने जंगल तथा बड़े बड़े पर्वत-शिखर अभी भी वर्तमान हैं और गमनागमन में भी अनेक विघ्नबाधाएँ हैं, तथापि बहुत ही पूर्वकाल से नेपाल से मिथिला को आना और यहाँ से नेपाल को जाना लोगों के लिए बड़ी आसान बात रही है[1]। जब राजा नान्यदेव ने शाके १०१९ अर्थात् १०९७ ईस्वी[2] में नेपाल के मल्ल-

---

[1] 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ९, भाग ४, पृ० १७।

[2] किंतु 'वंशावली' के आधार पर डाक्टर डेनियल राइट का कहना है कि नान्यदेव ने शाके ८११ अर्थात् नेपाल सम्वत् ९ तथा ८८९ ईस्वी में नेपाल पर चढ़ाई की और अपना स्वत्व वहाँ जमाया। यद्यपि नेपाल के राज्यकाल के संबंध में अनेक मतभेद देख पड़ते हैं तथापि मैं यहाँ डेनियल राइट के मत से सहमत नहीं हो सकता। अतः जैसा कि पूर्व में कह चुका हूँ नान्यदेव ने लगभग १०१९ शाके में नेपाल पर भी अपना शासन फैलाया। इस के और भी प्रमाण हैं। राजा नान्य-

वंशीय राजाओं को मार भगाया तो वे लोग मिथिला ही में आ कर रहने लगे। उस के बाद भी बराबर मिथिला से आना जाना लगा ही रहा। मैथिलों को नेपाल में बड़ी बड़ी ज़मींदारियाँ मिलीं, जो अभी तक बहुतों के पास पूर्ववत् वर्तमान हैं। इन्हीं ज़मींदारों में मेरे भी मातृकुल के लोग थे। इस से मिथिला और नेपाल का घनिष्ठ संबंध ज्ञात होता है।

(२) नान्यदेव के बाद हरिसिंहदेव मिथिला के बड़े प्रसिद्ध और विद्या-प्रेमी राजा हुए। उन्हों ने नेपाल पर भी शासन किया है। इस के बाद भी हरिसिंहदेव के पुत्र मानसिंहदेव ने लगभग पंद्रह वर्ष तथा उन के पुत्र शक्तिसिंह-देव ने लगभग बाईस वर्ष और इन के पुत्र श्यामसिंहदेव ने भी लगभग पंद्रह वर्ष तक नेपाल में राज्य किया। ये सब राजे मिथिला से आए हुए विद्वानों का पूर्ण आदर करते थे और जहाँ तक होता मिथिला की उन्नति की तरफ़ पूर्ण ध्यान देते थे। मैथिली ही इन दिनों राजभाषा थी।

(३) श्यामसिंह के कोई पुत्र नहीं हुआ। अतः इन्हों ने अपनी कन्या का भूतपूर्व मल्लवंशीय राजा (जो कि उन दिनों मिथिला में रहते थे) के साथ विवाह कर दिया। उस के बाद भी राजा प्रतापमल्ल (१६३९ ईस्वी) ने मिथिला ही के किसी वंश की कन्या से विवाह किया। इस के अनंतर रणबहादुरसाह तथा गीर्वाणयुद्धविक्रमशाह ने भी मिथिला ही से अपने वैवा-हिक संबंध स्थापित किए। और इन लोगों की वंशपरंपरा में बराबर मिथिला

देव के दो पुत्र हुए—गांगदेव तथा मल्लदेव। जिस में गांगदेव ने लगभग ४१ वर्ष मिथिला में राज्य किया। और नान्यदेव ने लगभल ५० वर्ष राज्य किया। इस हिसाब से १०६९ शाके के बाद गांगदेव का राज्यकाल आता है। यह नेपाल राज-कीय पुस्तकालय में वर्तमान एक रामायण के हस्तलिखित पुस्तक की निम्नलिखित पुष्पिका से भी स्पष्ट होता है—'सम्वत् (? शाके) १०७६ आषाढ़ वदि ४ महाराजा-धिराज-पुण्यावलोक-सोमवंशोद्भव-गौड़ध्वज-गांगेयदेव श्रीआनन्दस्य पाटकावस्थित पण्डित श्रीश्री कु (क ?) स्यात्मज श्रीगोपतिनालेखीदम्।' इस से भी नान्यदेव का राज्यकाल १०१९ शाके ही सिद्ध होता है।

से घनिष्ठ संबंध बना रहा। इसी कारण जितने उच्च कुल के लोग नेपाल में थे सब मैथिली भाषा को ही अपनी मातृभाषा समझते थे। अतएव भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं का कहना है कि "नेपाली भाषा बोलने वालों के आने के पूर्व नेपाल में मैथिली भाषा अथवा भोजपुरी के समान ही भाषा बोली जाती थी, यह संभावना की जाती है"[1]। डा० श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी ने तो साफ़ साफ़ यह कहा है कि खसकुरा या नेपाली भाषा की उत्पत्ति १८ वीं शताब्दी के बाद हुई है। इस के पहले दक्षिण-पूर्व नेपाल में मैथिली ही बोली जाती थी। हाँ, इसी के साथ बंगला भाषा का भी अस्तित्व वहाँ था, यह भी उन्हों ने कहा है[2]। डा० प्रबोधचंद्र बागची का कहना है कि "पंचदश शताब्दी थेके ये भाषाय साहित्य रचना हते आरंभ हल···ताहा कखनओ प्राचीन मैथिली, कखनओ वा प्राचीन बाङ्लार अनुरूप। तार एक मात्र युक्ति युक्त कारण मने हय ये नेपालेर प्राचीन वंशे ओ प्रभावसंपन्नव्यक्तिदेर शिक्षार भाषा छिल मैथिली। कारण, ताँदेर अनेकेई मिथिला थेके गियेछिलेन[3]।"

(४) उन दिनों मिथिला के चारों तरफ़ विद्यापति तथा उन के पूर्व और बाद के हुए कवियों की कविता से लोग मुग्ध हो रहे थे। इन की कविता की भाषा मैथिली है। अतः मिथिला से घनिष्ठ संबंध होने के कारण, मैथिली ही को अपनी मातृभाषा समझते हुए नेपाल के साहित्य-प्रेमी राजा लोग भी मैथिली ही में ग्रंथ-रचना स्वयं करने लगे और विद्वानों को भी इस के लिए प्रोत्साहित करते रहे। फिर क्या था जिस भाषा के साहित्य को राजा ने अपनाया उस की भंडार-पूर्त्ति होने में कितना विलंब हो सकता है। इन्हीं कारणों से लगभग १७३८ ईस्वी तक मैथिली भाषा में रचित ग्रंथों का पता नेपाल में मिलता है। इन ग्रंथों में बहुत से तो पूर्ण रूप से केवल मैथिली ही में हैं तथा बहुतों में संस्कृत भी मिश्रित है।

---

[1] 'लिंग्विष्टिक सर्वे अव् इंडिया', ग्रंथ ९, भाग ४, पृ० १७।

[2] 'बंगलाभाषा और उसकी उत्पत्ति'

[3] साहित्यपरिषद्पत्रिका, बंगाब्द १३३६, भाग ३६, संख्या ३ पृ० १७२।

महाराजा जयस्थितिमल्ल ने १३८० से १३९४ ईस्वी तक राज्य किया[1]। इन के तीन पुत्र हुए—धर्म्ममल्ल, ज्योतिर्म्मल्ल तथा कीर्त्तिमल्ल[2]। इन तीनों के नाम के पूर्व 'जय' भी लगाया जाता था। इन तीनों के राजत्व-काल में जो साहित्यिक रचना हुई उस का कुछ भी पता अभी नहीं है। जयज्योतिर्म्मल्ल के पुत्र यक्षमल्ल ने १४७१-१४९४ तक राज्य किया। इन्हों ने मिथिला तथा मगध को तथा अन्य छोटे छोटे राज्यों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया था[3]। इन के भी राजत्व-काल की साहित्यिक चर्चा का पता नहीं लगा है। इन के भी तीन पुत्र हुए—रायमल्ल, रत्नमल्ल तथा जयरणमल्ल। इन तीनों को इन के पिता ने तीन राजधानियों में अलग अलग राज्यभार सौंपा। रायमल्ल तो भातगाँव के राजा बने। रत्नमल्ल ने काठमांडू को अपनी राजधानी बनाया तथा जयरणमल्ल को वनेपा दिया गया। इन तीनों स्थान में साहित्यिक उन्नति बराबर होती ही चली आई।

भातगाँव के राजाओं के आधिपत्य में साहित्य की विशेष उन्नति हुई। रायमल्ल के अनंतर भुवनमल्ल, जितमल्ल तथा प्राणमल्ल क्रम से राजा हुए। इन सबों के राज्य-काल में भी साहित्यिक रचनाएँ अवश्य हुई होंगी, किंतु अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। संस्कृत के कुछ नाटकों की रचना हुई, इस का पता लगता है, किंतु यह ज्ञात नहीं है कि वह किस प्रकार की रचना है। प्राणमल्ल के बाद विश्वमल्ल १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में राजा हुए। इन के समय के

---

[1] सी० वेंडल, 'हिष्ट्री अव् नेपाल एंड सरौंडिंग किंग्डम्स', पृ० २८।

[2] भक्तापुरी नगर्यां च त्रयो राजा विराजते।
धर्मयो (जो) तिश्च कीर्तिश्च ज्येष्ठमध्यकनिष्ठके। सी० वेंडल पृ० १५।

[3] आसीद्विश्वविशोभिनिर्म्मलयशोराशौ रघोरन्वये
विख्यातो जययक्षमल्लनृपतिर्दातावदाताशयः।
यो राज्यं मिथिलां विजित्य मगधं गत्वा गयां पौरुषात्
यो नेपालमकण्टकं व्यरचयज्जित्वा नृपान् पार्वतान्॥
—जगज्ज्योतिर्म्मल्लरचित नरपतिजयटीका स्वरोदयदीपिका, पृ० १

एक अधूरे नाटक का पता लगता है। इस का नाम 'विद्याविलाप' नाटक है। इस नाटक के आदि में सूत्रधार कहता है—

"श्रीमत् श्रीभक्तपत्तननगरी सकलगुणिजनशोभित, तार महिमा शुन··· श्रीश्रीविश्वमल्ले नृपती···श्रीश्रीजयविश्वमल्लदेवस्य सभा के महिमा शुन···" इत्यादि।

विश्वमल्ल के अनंतर त्रैलोक्यमल्ल, जिन का दूसरा नाम त्रिभुवनमल्ल था, राजा हुए। १५७२ से १५८६ तक इन्हों ने राज्य किया। यह साहित्य, न्यायशास्त्र, आगम तथा कविता में बड़े निपुण थे[१]।

इन के समय में भी अनेक नाटक लिखे गए। इन नाटकों के पद्यभाग अधिकांश गान के लिए ही लिखे जाते थे, यह निम्नलिखित पद्यों से स्पष्ट मालूम होता है। पद्यों को पढ़ने से उन के उच्च भावों को देख कर यह मालूम होता है कि नेपाल में उन दिनों मैथिली भाषा की उन्नति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। यह उदाहरण मैं ने डाक्टर बागची के 'साहित्य-परिषद्' के लेख से उद्धृत किए हैं—

कमलनयन मोहि विसारल
सुन मधुरिका सखि।
वसंत दारुण काल गमाओब
कइसन जीवन राखि।
दक्षिण पवन मेघ सुधाकर
भेल सभ किछु आनि।
चंदन शीतल बोलिले गाओल
रेणु उडए लह लागि।

---

[१] तस्मात्त्रैलोक्यमल्लः समजनि रजनीजानिजेता यशोभिः
साहित्यन्यायशास्त्रागमवरकवितारण्यसंचारसिंहः।
दाता भोक्तावदाताशयगतिरनघश्चण्डिकापादसेवा—
पण्डीभूताधिजातः शिवचरणसरोजन्मचिंताद्विरेफः॥
—स्वरोदयदीपिका, नेपाल राजकीय पुस्तकालय सूची, पृ० १०८।

वेदनि हे हरि बिनु बड़ हय दुख
चरण कमल यदि छाड़ल ता दिन गयल सुख।
सकल रयनि जागि गमाओलि
न छाड़े नीर नयन।
अवश्य आओत हरि महागुणी
वीरनारायण भान॥

'भणिता' से मालूम होता है कि वीरनारायण इस के रचयिता थे। इसी नाटक में विरह-वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

सघन वरिसए मेहा
सुमरि सुबंधु महा।
जीव छटपट नींद न आबए
विरह दगध देहा।
मन पंछि हय जाबो
जाहागिया पायिबो।
हाते धरिया पाय पड़िया
गला तुलिया लइबो।
चंदन चिरण भाबए
कुसुम साजि सोहाबए।
अङ्ग मोड़ि मोड़ि आङ्गन ठाकि
मन चौदिक धाबए।

डा० बागची का कहना है कि यह नाटक समस्त एकत्र नहीं मिला। अतएव इस का नाम क्या है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। किंतु विषय को देख कर यह मालूम होता है कि यह राधाकृष्ण को लेकर लिखा गया था।

ऊपर दिए हुए गानों की सुगठित भाषा, भावों का सन्निवेश तथा पदों का लालित्य देख कर यह अनुमान होता है कि इस प्रकार के अनेक ग्रंथ पूर्व से लिखे जाते थे और त्रिभुवनमल्ल के समय में भी अवश्य अनेक ग्रंथ लिखे

गए होंगे। दुर्भाग्यवश मैथिली की खोज अभी प्रारंभिक दशा ही में है। अतः इस के और ग्रंथों का पता अभी नहीं लग रहा है।

त्रिभुवनमल्ल के बाद जगज्ज्योतिर्म्मल्ल राजा हुए। इन का राज्यकाल लगभग १६१३-१६३३ ईस्वी कहा जाता है। यह बड़े पराक्रमी तथा अनेक शास्त्रों के विद्वान् हुए[1]। इन्हों ने मिथिला से अनेक उत्कृष्ट विद्वानों को अपने यहाँ बुला कर उन से नाना प्रकार के ग्रंथ पढ़े और उन की सहायता से अनेक विषयों पर ग्रंथ भी लिखे। मिथिला से उन दिनों आए हुए विद्वानों में कवि-वर पंडित वंशमणि झा सब से प्रसिद्ध थे।

जगज्ज्योतिर्म्मल्ल ने अनेक ग्रंथों की रचना की यथा (१) 'नरपति जयचर्य्या' की 'स्वरोदयदीपिका' नाम की टीका,[2] (२) पद्मश्रीविरचित 'नागर सर्वस्व' नामक कामशास्त्र ग्रंथ की टीका,[3] (३) 'श्लोकसारसंग्रह'[4] (४) 'संगीतभास्कर'—यह ग्रंथ मैथिल पंडित श्रीवंशमणि झा की सहायता से लिखा गया;[5] (५)। संगीतसारसंग्रह,[6]। इन के अतिरिक्त इन्हों ने अनेक भाषा ग्रंथ भी लिखे। १६२८ ईस्वी के लगभग 'मुदितकुवलयाश्व' नामक नाटक इन्हों ने लिखा। इस नाटक का आदर पाश्चात्य देशों में विशेष कर हुआ। डा० पिशेल ने बड़े आदर के साथ इस ग्रंथ के अनेक अंशों को उद्धृत किया है[7]।

---

[1] तत्पुत्रो दानकर्णो जयति जयजगज्ज्योतिमल्लो नरेंद्रो
ज्योतिःसाहित्यशास्त्रस्मृतिविविधकलाम्भोधिपारङ्गमज्ञः।
नारीणामप्यरीणां सपदि मुखविधुं यस्य दृष्ट्वातिकष्टाद्
वैवर्ण्य···मूर्च्छा प्रभृति बहुविधा हंत भावा भवंति—स्वरोदयदीपिका।

[2] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथसूची, पृ० १०८-१०९।

[3] गुजराती प्रेस, बंबई से मुद्रित।

[4] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथसूची, पृ० २५९।

[5] वही पृ० २६२-२६३।

[6] वही, पृ० २६३-२६४।

[7] जर्मन ओरिएंटल सोसाइटी, हस्तलिखित पुस्तक-सूची, पृ० ७-८।

डा० बागची का कहना है कि इस नाटक की भाषा प्राचीन मैथिली है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन मैथिली और आधुनिक मैथिली भाषा में विशेष अंतर नहीं है। केवल कतिपय शब्दों के प्रयोग में तथा उन के अर्थ में बहुत अंतर हो गया है। इस से भाषा में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं उत्पन्न हुआ है। १६२९ ईस्वी में इन्हों ने द्वितीय नाटक 'हरगौरीविवाह' नाम का लिखा। इस नाटक की एक प्रति कैंब्रिज-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है। इसी समकाल में 'कुंजविहार' नाम का तीसरा नाटक भी इन्हों ने लिखा। इस नाटक के नाम ही से यह मालूम होता है कि यह राधा-कृष्ण की लीला को लेकर लिखा गया है। इस नाटक से कुछ पद्यांश यहाँ डा० बागची के लेख से उद्धृत किया जाता है—

सूत्रधार की उक्ति—

कुञ्जविहार हरि छाज रे
गोपी सबे हरखित आज रे।

राधा और कृष्ण का गान—

जाहि बह जमुना तीर, शीतल सुरहि समीर।
नवदल तरुअर सोह, मधुकर धुनि सब मोह।
ताहि विंदिरावन मांझ, हमर हृदय गुणे वांझ।
ताहाँ गए करिए विलास,
जहाँ पहु पुराबए आस।
नृपजगज्जोतिमल्लवानी,
मोर गति एके भवानी।

इस ग्रंथ में ऋतुओं का वर्णन तथा गोपी एवं राधिका की उक्तियाँ अनेक हैं।

पहले कहा गया है कि जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के समय में मिथिला के एक प्रसिद्ध विद्वान् वंशमणि झा नेपाल में रहते थे। यह यद्यपि मुख्यतया काठमांडू के राजा की सभा में पंडित थे तथापि जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के यहाँ भी यह आते थे और इन से राजा ने बहुत कुछ पढ़ा था। यह भारद्वाज गोत्रोत्पन्न,

विल्वपंचग्राम (बेलोंचे) मूलक पंडित रामचंद्र झा के पुत्र थे। पंडित रामचंद्र झा भी अनेक शास्त्रों में बड़े निपुण थे[1]। जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के साथ वंशमणि झा १६१३ ईस्वी में थे। इस का प्रमाण यह है कि जगज्ज्योतिर्म्मल्लरचित 'स्वरोदयदीपिका' पुस्तक वंशमणि ने ल० सं० ४९४ अर्थात् १६१३ ईस्वी में राजा की आज्ञा से लिखी थी[2]।

वंशमणि झा के बनाए हुए केवल तीन ग्रंथों का पता अभी लगता है। (१) भाषानाटक 'गीतदिगंबर', (२) 'चतुरंगतरंगिणी', तथा (३) 'संगीत-भास्कर'। यह अंतिम ग्रंथ जगज्ज्योतिर्म्मल्ल-रचित 'संगीतचंद्र' की टीका है[3]। यह नेपालीय संवत् ७५१ अर्थात् १६३१ ईस्वी में लिखा गया था।

काठमांडू के राजा प्रतापमल्ल ने १६५५ ईस्वी में महातुलादान किया था। उसी अवसर पर वंशमणि ने 'गीतदिगंबर' नामक भाषानाटक की रचना

---

[1] प्रिये ! अस्ति किल भरद्वाजकुलजन्मना जनकजनपदीयेन रामचंद्रशर्म्मणः पुत्रेण वंशमणिकविनोपनिबद्धं गीतदिगम्बरं नाम रूपकमिति···।

नाह को एत्थ रामचंदो।

प्रिये न जानासि यस्यैषा प्रशस्तिपञ्जी—

निर्द्दोषा कोषवृन्दे नटति पटुतया नाटके साटकेऽपि
न्याये वैशेषिके या विलसति सविशेषैव सांख्येति मुख्या।
गद्ये पद्येऽतिहृद्ये सहृदयहृदयानन्दिनी यस्य बुद्धि-
र्जातः श्रीविल्वपञ्चाभिधकुलजलधौ चंद्रमा रामचंद्रः॥

[2] शुभमस्तु श्रीरस्तु शाके १५३६ ल० सं० ४९४ श्रीजगज्जोतिर्म्मल्लनिदेशमासाद्य श्रीवंशमणिशर्म्मा व्यलेखीदं पुस्तकम्—नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, पृ० १०९।

[3] श्रीमज्जगज्ज्योतिरधीश्वरस्य निदेशमासाद्य गुणोत्तरस्य।
सङ्गीतशास्त्रस्य चकार टीकां श्रीमैथिलो वंशमणिर्मनीषाम्—नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ-सूची, पृ० २६३।

की[1]। यह नाटक चार अंकों में समाप्त हुआ है। प्रथम अंक का नाम 'मुदित-महेश', द्वितीय का 'माननोमानभंग', तृतीय का 'विरक्तविरूपाक्ष' तथा चतुर्थ अंक का नाम 'सकामकामेश्वर' है।

कहीं तो इस नाटक में संस्कृत में श्लोक तथा गद्य भी है और कहीं मैथिली के पद्यों की भरमार है। आदि में ही मंगलाचरण करते हुए कवि ने शिव के अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन किया है—

आध मौलिमण्डन फुलमाले,
आध तरङ्गित सुरसरि धारे।
आध अलिक तिलक नव इन्दु,
आध सोहाओ सिन्दुर विन्दु।
कोमल विकट दुहु चारी,
अपुरुब नाच करथि त्रिपुरारी।
एकदेह अधपूरुष दारा,
तेंतिसकोटि देव देखनिहारा।
सुकवि वंशमणि एसुर गावे,
सेवि देव हर की नहिं पावे।

इसी प्रकार के अनेक पद्य इस नाटक में और भी हैं। इस नाटक की जो हस्तलिखित प्रति मेरे पास है वह बहुत ही अशुद्ध है तथा इस में बहुत छूट भी है। तथापि पाठकों के विनोदार्थ तथा इन पद्यों की भाषा मैथिली ही है, यह दिखाने के लिए कुछ और भी पद्यों को यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक है।

---

[1] शाके १५७७ आषाढकृष्णपञ्चमी बुधे।
तुलाधिरूढे नृपतिप्रतापे प्रभाकरे धूतसमस्तपापे।
सुवर्णकान्ते विमले निशान्ते रत्नाकरे विप्रगणा ममज्जुः॥
प्रतापमल्लप्रभुकल्पितायां जगत्त्रयेऽस्मिन्न तुला तुलायाः।
यदुच्चनीचेषु पयोमयीव हिरण्मयी वृत्तिरिवाविरासीत्।
—'गीतदिगंबरनाटक' पुष्पिका।

वसंत का वर्णन—

आएल उधम समय ऋतुराज,
सबहि सोजे (सोभें) नेन (जेन) युवतिसमाज।
पिक पञ्चम धुनि मङ्गल पूर,
वसंती बिलह पराग सिंदूर।
······मित कानन अलिझँझकार,
मुनिहुक मानस मदन विकार।
वअलित जागवलित्रमल (?) चंद,
देखु विरहि जन जीयन (जीवन) दंद॥"

भैरवी—

परिमि जोग भो······अभिमाने
पिक पञ्चमधुनि भव स्वगेञ्जाने (स्वगेआने)।
विसरल जपत जपत धएल साधी,
लागि रहल मन मदन समाधी।
करथि महेश वसंत विहार,
गावि सङ्गे जोग नाग विसार॥"

करह उनत हसि मुख अरविंदा रे।
सरिभए उगओ गगन दुइ चंदा रे।
विधुक वेधरण हेरह मधु निसा रे।
कुवलय पाति फूलओ दह दिसा रे।
सरसनि सनिहा रिवो नह (?) किछु वानि रे,
वरिसह······विमुधा मधुसानि रे।
रहलि विभावरि रस अवसान रे,
तेजह अकारण मरदन मान रे।
सुकवि वंशमणि एहु रस गाव रे,
अहन यनचन (?) काहि नहिं भाव रे॥

अन्य संस्कृत नाटकों की तरह इस नाटक में भी संस्कृत भाषा में पद्य और कहीं कहीं गद्य भी है। नटी तथा चेटी आदि पात्र प्राकृत में भी बोलते हैं। गान तो सब मैथिली ही में है।

जगज्ज्योतिर्म्मल्ल के बाद उन के पुत्र जगत्प्रकाशमल्ल राजा हुए। इन का राज्यकाल १७ वीं शताब्दी का मध्य-भाग है। यह भी अपने पिता के समान विद्या-प्रेमी राजा थे। इन के बनाए हुए संस्कृत में भी 'भवानीस्तव' (१६६२ ई०) 'नारायणस्तव' (१६६७ ई०) तथा 'पद्यसमुच्चय' नाम के ग्रंथ मिलते हैं। मैथिली में रचित इन के 'मलयगंधिनी' नामक नाटक का पता डा० बागची को लगा है, जिस के नांदी में लिखा है "जगतप्रकाश भने नाटक नाथे"। तथा सूत्रधार का कथन है "श्रीश्री जय जगत्प्रकाशमल्ल क आज्ञा भेल छ···मलयगंधिनी नाटक अभिनय करु"। यह नाटक असंपूर्ण पाया जाता है। किंतु यह नहीं कहा जा सकता है कि यह संपूर्ण नहीं हुआ था, क्योंकि महाराज श्रीनिवासमल्ल के देवीमहोत्सव के उपलक्ष में इस का अभिनय हुआ था।

जगत्प्रकाशमल्ल तथा श्रीश्रीनिवासमल्ल में परस्पर कुछ दिनों तक पूर्ण मैत्री थी। यह भी इसी नाटक के पढ़ने से मालूम होता है—

चौखण्ड नरपति तोहर बखन
त्रिभुवन महीपति सम नहि आन।
निरमलमति तुअ गांग जलधर
गल गजराज मोति सुंदर हार।
चौसठि कलापर सरूपहि काम
शरदक शशिमुख बड़ अभिराम।
शिरि निवास भूपति शरण लेला
जगतप्रकाश मति ताहा सुख देला।

इसी के बाद सूत्रधार पुनः कहता है—

हे प्रिये ! एहेन राजा श्रीश्रीनिवासमल्ल। उन्हिक जश वर्णना भक्तापुर क राजा श्रीश्रीजगतप्रकाशमल्ल सतत करथि।

इस के अतिरिक्त जगत्प्रकाशमल्ल ने एक 'मदनचरित' नामक नाटक रचा था, जिस का अभिनय उन के कनिष्ठ पुत्र उग्रमल्ल के उपनयन के अवसर पर, लगभग १६६३ ई० में हुआ था। इस नाटक की पुष्पिका में लिखा है—

"इति श्रीश्रीजयजगत्प्रकाशमल्लकृतं कनिष्ठपुत्रश्रीश्रीउग्रमल्लस्य उपनयनार्थे मदनचरितं नाटकं समाप्तम्"

इस का गद्यांश भी बहुत मधुर है—

सूत्रधार—हे प्रिये ! एतय आउ।

नटी—हे नाथ ! हमर प्रणाम। की आज्ञा करैछिअ।

सूत्रधार—हे प्रिये ! श्रीश्रीजयजगतप्रकाशमल्ल देव क ज्येष्ठ राजकुमार श्रीश्री जयजिताभित्रमल्ल क आज्ञा भेल अछि। इत्यादि।

पद्यांश भी अपूर्व है—

अथिर कलेवर कमलपातक जलतूले।
भवन कनकजन रजत आदि जप थिर नहि रह सब जने।
सुत मित सब धन सुख दुख सब अथिर जानब मने।

इत्यादि

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि यह सिद्धनरसिंह के पुत्र श्रीनिवासमल्ल की सभा में लिखा गया। 'मार्कंडेयपुराणोक्त ललितकुवलयाश्व—मदालसोपाख्यान—शिवमहिमानाटक' को १९२३ ई० में जोसेफ़ ओष्टर नामक एक जर्मन प्रकाशित करने को उद्यत थे। इस नाटक में गान मैथिली में हैं।

जगत्प्रकाशमल्ल के ज्येष्ठ पुत्र जितामित्रमल्ल भी बड़े उत्साही तथा विद्वान् राजा हुए। इन्हों ने संस्कृत में 'अश्वमेधनाटक' नेपाली संवत् ८१० पौष सुदि अर्थात् १६९० ई० में लिखा। इस का दूसरा नाम 'जैमिनिभारत' भी है। इस के भी गान बहुत सुंदर हैं। पता नहीं कि इस में भाषा का अंश कितना है, क्योंकि पुस्तक का समस्त वर्णन नहीं मिला है। जितना मिलता है उस में तो केवल संस्कृत ही है।

इस के अतिरिक्त 'मदालसाहरण' नामक मैथिली नाटक उन्हों ने १६८१ में लिखा, जिस का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है, जिस से पाठकों को यह मालूम हो जाय कि अन्य नाटकों की भाषा के समान ही इस की भी भाषा है—

विमल बहय सिर सुरसरि धार
नाचत मगन शशिशेखरा।
सुमति जितामित्र कह नृप ईश
देखु सदाशिव अभयवरा।

प्रिय सुन इन्दुमुखी तेज तोंहे मान
तोरित अधरमधु देह रतिदान।
तुअ सम सीमन्तिनी न देखल आन
दरशने भेल मोर थाकित परान।

ये पद्य उमापति उपाध्याय-रचित 'पारिजातहरणनाटक' के पद्यों से बहुत मिलते जुलते हैं। जैसा—

चानकला नयनानल थापल
मानल सुख भुजंगवरा।
अमिय सार हरि अविरल हो मन
हसल सकल सुर असुर नरा।

अवगुन परिहरि हरषि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने।
हिमगिरिकुम्मरि चरण हृदय धरि
सुमति उमापति भाने॥

इस के बाद काठमांडू के राजा प्रतापमल्ल के पौत्र भूपालेंद्रमल्ल ने भी मैथिली भाषा में नाटक रचे। भूपालेंद्रमल्ल लगभग १६८२ ई० में राजा हुए। इसी समय 'नलचरित्रनाटक' का अभिनय हुआ था। निम्नलिखित पद्य से

ही इस नाटक की भाषा का परिचय पाठकों को आप ही आप हो जायगा। डा० बागची का कहना है कि इस नाटक की भाषा मैथिली है।

तेरो वदनमा तो शशधर
मेरो नयन चकोरा।
देखत मोहए अधिक सोहए
कहहु वचन मोरा।
देखिते सुंदर चपललोचन
काजर शोभा री।
मनो पंकज भमर सोहत
पवन से लघुचारी।
पार्थिवेंद्रसुत नृप भूपालेंद्र कहत
एहो विचारी।
उचित समय मिलहुँ नागरि
पति से मति समारी॥

जितामित्र के बाद भूपतींद्रमल्ल नेपाल के राजा हुए। इन्हों ने १६९५ से १७२२ ई० पर्यंत राज्य किया। इन के बनाए हुए अनेक नाटक मिलते हैं। इन के रचे हुए स्फुट गान भी अनेक पाए जाते हैं। डा० बागची का कहना है कि नेपाल-राजकीय-पुस्तकालय में एक 'भाषासंगीत' नाम का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में ८१ गान हैं। यह भूपतींद्रमल्ल के बनाए हुए हैं। इस का पता उन गानों की भणिता से लगता है। गानों की भाषा शुद्ध परिष्कृत मैथिली है, जैसा कि निम्न उद्धरणों से सिद्ध होगा। डा० बागची के लेख से कुछ पंक्तियाँ मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

हे देवि शरण राख भवानी।
मन वच करम करओ मान किछु
से सबए तुअ आपद जानि।
हमे अति दीन खीन तुअ सेवा
राख हरि यजन ठानि।

अभिनय मोर अपराध संभव
मन जनु राखह आनि ।
आओर इतर जन जग जत से सबए
गुण रसमक से बानि ।
तुअ पद कमल भमर मोर मानस
जनम जनम रहो मानि ।
भूपतींद्र नृप एहो रस गाबए
जय गिरिजापति रानि ।

विरहवर्णन—

कि माधव न तेजह अबलाअ आमि । ध्रु०
शरद यामिनी हमे हेरिलहुँ हे चउदीशे
देखि शशि दाह परान ।
नाह अपनहि कट मने भाविय
मलय पवन हन चान ।
मधुकर भमि भमि विपिन कुसुम रमि
घुरि पिबय कर राव ।
युवति हृदयदल परम कठिन मन
पाए न तह अति भाव ।
सरसिज सरोवरे द्रुम भय पिकधुनि
सुनि जिव काँपय मोर ।
भवन आसन घन, भल न सताबय
खन खन चिति थिति मोर ।
कओन गुणे परबस रय (ज) नि गमाओल
आतुर अथिर गेआन ।
भूपतींद्र नरपति भन सुनु मानिनि
रतिरस होएत निधान ॥

डा० बागची का, कहना है कि 'माधवानल', 'रुक्मिनीपरिणय' तथा और भी दो खंडित नाटकों को भूपतींद्रमल्ल ने रचना की थी। 'माधवानल' की रचना १७०४ ईस्वी में हुई थी। इस नाटक में राजवर्णन तथा देश-वर्णन भूपतींद्र ने दूसरे के नाम से किया है। इस की भी भाषा मैथिली ही है। इसी प्रकार 'रुक्मिनीपरिणय' की भी भाषा है। जैसे—

जगत जलधि तट तरि नहि होयि
शिव क भजन बिनु आओर न कोयि।

ऊपर दो खंडित नाटकों की चर्चा हुई है। निम्न-लिखित पद्यों से मालूम होता है कि ये भी परिशुद्ध मैथिली नाटक हैं।

तोहे प्रभु नागर सुगुन आगर
रूपे मदन समान।
सोरह चउगुन कला क आगर
रसिक गुनगन जान हे।
नारि अलपमति आन नाहि गति
कामे दहत शरीर
जनम सफल कर आज पहु मोर
श्रीभूपतींद्र भन वीर हे॥

इस के अतिरिक्त भूपतींद्रमल्ल ने 'विद्याविलाप' तथा 'महाभारत' नाम के और भी दो नाटक लिखे थे।

'विद्याविलाप' सात अंक में समाप्त हुआ है। प्रसिद्ध 'विद्यासुंदरनाटक' जो हिंदी में है—वही कथा इस में भी है। पात्रों के प्रवेश-सूचक वाक्यों के तथा तीन संस्कृत श्लोकों के अतिरिक्त यह समस्त नाटक मैथिली भाषा के पद्यों में लिखा गया है। प्राचीन मैथिली के बहुत से परिचित शब्द तथा कारक चिह्न एवं लिखने की परिपाटी इस में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। 'ञे' प्रथमा तथा द्वितीया कारक के स्थान में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। जैसे "विद्याञे अनुचित कएलन्हि काज"; "राजाञे देल जत" तथा "जे जन विद्याञे जित से पहु मोरा"।

यह प्रयोग १३वीं शताब्दी से चले आ रहे हैं और ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' में प्रचुर रूप से हैं। 'सञो' तथा 'जञो' 'से' और 'यदि' के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये भी प्राचीन ही प्रयोग हैं। 'दरवरि चलह' यहाँ 'दरवरि' शब्द अति शीघ्र के अर्थ में प्राचीन मैथिली में प्रयुक्त होते थे। यह नेपाली सं० ८४० अर्थात् १७२० ईस्वी में लिखा गया था।

इस के कुछ सुंदर पद्य पाठकों के लिए मैं उद्धृत करता हूँ—

'विद्याविलाप' के नांदी में कवि ने कहा है—

जय जय शंकर देव नटेशर
वह सिर सुरसरि धार।
चाँद ललाट शोभित अच्छ
निरमल उरवर फनिपति हार। हे नटेशर।
गौरी कलिततनु अपने दिगम्बर
तीनि नयन सुविराजे।
असन धुथुरफल वसन वघम्बर
पूरथि सुरगन काजे
भसम लेपित अङ्ग हर करुणामय
शूल डमरुकर ईश।
शंख तुहिन तुल देह वरण तुअ
गल रह कालिम बीस।
रघुकुलकुलमणि भूपतीन्द्र नृप
वरणित एहन अनूपे
चारि पदारथ दायक ईशर
मुनिगण भावित रूपे॥

जलक्रीड़ा वर्णन करती हुई विद्या नायिका बसंत राग में गाती है—

साजनि! सरोवर खेलायब रंगे॥ ध्रु०॥
मत्त मराल विहार कयल जल,
देखयिते भेल उलास।

चारु चकइ चकवा दुहु तीरहि,
करय केलि विलास।
जाहि जूहि फुल सितरुचि विकसित,
तोड़ब सब मिलि आज।
विश्वलछिमिप्रिय भूपतीन्द्र नृप
गावय रणजित राज॥

हमें अबला पहु वयसहि थोर,
दूबर तनु सुकुमार।
न (?) देह कलेश
कुसुम न सह खगभार॥[1]
नारि कज विनय मन जनु राखिअ
नागर भय सगेआन।
लालमतिदेविसुत भूपतीन्द्र नृप भान॥

दूसरा नाटक 'महाभारत' है। यह २३ अंकों में समाप्त हुआ है। यह नेपाल-संवत् ८२२ अर्थात् १७०२ ई० में लिखा गया है। संक्षेप में महाभारत की मुख्य कथा का वर्णन इस में किया गया है। चार पाँच श्लोक संस्कृत में हैं और गान सब मैथिली में हैं। पात्रों का प्रवेश तथा निस्सरण नेवारी भाषा में मालूम होता है। इस नाटक में भी 'विद्याविलाप' के समान ठेठ मैथिली भाषा का प्रयोग अधिक देख पड़ता है। बहुत से प्राचीन प्रयोग इस में भी वर्तमान हैं। जैसे—"अबे हमे जायब"; "चल चल जायब तोराञ ततञ"—(चलो चलो शीघ्र हम वहाँ जायंगे); "हम सञो आजि" (सञो=से); "विधाताञे देल आज ई दुख यो (जो) हि" (विधाता ने आज यह दुख खोज कर मुझे दिया); "कि दहुँ होयत किकर आजे" (कि दहुँ=क्या); "जितब हमे जञो" (जञो= अगर) "हठ तेजु एहाञे जायब बनवासे" (एहाञे=आपही) "हम सञो न

[1] 'फूल न सहय खगभारा'—महाभारत नाटक, अंक ७।

करह गुमान" (मुझे गौरव न दिखाओ) "मिलि कहु कहिनि कहब गय" (हम सब मिल कर बातचीत करेंगे या उन से यह बात कहेंगे); "जह्निक (जिन की) कृपा"; "तेजह सिनेह तह्नि (उन का)" इत्यादि। 'देखब गय'; 'करब गय', 'हेरब गय' इस प्रकार का प्रयोग ठेठ मैथिली में होता है। आधुनिक परिष्कृत मैथिलो में 'गय' का प्रयोग धीरे धीरे लुप्त हो रहा है।

पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ पद्य यहाँ दिए जाते हैं, जिस से कविता का गुण तथा भाषा का परिचय उन्हें स्वयं हो जाय।

धृतराष्ट्र गांधारी से कहते हैं—

अमिञ वचन सुनु सुन्दरि मोर।
निरमल तुअ मुख शारद चन्द।
उपजल से देखि आनन्द कन्द॥
हेमकलस जनि उरसिज तोर।
भूपतींद्र कह समुचित जोर॥

रुक्मिणी तथा सत्यभामा कृष्ण से कहती हैं—

सुनु पहु मोर एक गोचर आज।
पुरुब पुण्यफल पाओल तुअ हमे
चरण दरशन नाथ हे॥
तनुरुप तुअ देखि मदन मलीन।
कतेक कहब गुण मति मोर खीन॥
प्रेमरस देह आबे चतुर सयान।
भूपतीन्द्र नृप मन तोहर बखान॥

द्रौपदी भीम से कहती हैं—

कमल बदन तुअ सुंदर देखल,
खेलय नयन चकोर।
हृदय जुड़ावह हसि चलु प्रेयसि,
पूरह मनोरथ मोर।

पृषती द्रुपद से कहती हैं—

पहु मोर प्राण अधार ॥ ध्रु० ॥
अपुरुब सुन्दर प्रेमक सागर
प्रियतम काम समान ।
नारि अलपमति कोने गति वर्णब
तोहे प्रभु गुणक निधान ।
पुनमत पुनमति नारि नागर दुहु
वीहि मिलाओल आनि ।
भुवन विदित नृप सुरपति तुलरुप
भूपतीन्द्र एहो वानि ॥

कृष्ण तथा व्यास भगवान् युधिष्ठिर से कहते हैं—

न करह युधिष्ठिर तोहे अनुतापे ॥
क्षत्रिय धरम थिक एहाय कयल निक
एहि आज तेजह संका ।
करु अबे हयमख नृप (क)र प्रियसख
भूपतीन्द्र मन अकलङ्का ॥

यहाँ यह कह देना उचित है कि श्रीयुत ननीगोपाल वन्द्योपाध्याय के समान कुछ बंगालियों ने इन नाटकों को बंगला भाषा का नाटक कहा है। किंतु यह उन लोगों का दुराग्रह मात्र है, यह तो बड़े बड़े पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है। यहाँ तक कि डा० श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी, डा० बागची आदि बंगाली विद्वानों ने ही इन नाटकों की भाषा को मैथिली सिद्ध किया है और इस के लिए मैथिल विद्वान उन के चिर-कृतज्ञ हैं। और यही कारण है कि श्रीननीगोपाल वन्द्योपाध्याय को "हकराँ जायब सखी गाओब गीते" इस पद्य में 'हकराँ' शब्द का अर्थ नहीं मालूम हुआ और उन्हों ने इसे 'एकला' बनाया है। और इसी प्रकार "लुटि आनब गय गाय सगरे"

इस पद्य में 'सगरे' का भी अर्थ उन्हें नहीं मालूम हुआ जिस के लिए उन्हों ने 'सकले' पाठ स्वीकार किया है।

भूपतींद्रमल्ल के पुत्र रणजित् मल्ल १७२२ ईस्वी से कुछ पहले ही भातगाँव के राजा हुए। यही मल्लवंश के अंतिम राजा थे। इस के अनंतर गोर्खाओं का राज्य आरंभ हुआ। रणजित् मल्ल ने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। अपने पूर्वजों के समान यह भी बड़े उत्साही तथा विद्याप्रेमी और विद्वान थे। इन्हों ने अनेक नाटकों की रचना की। जिन में से कुछ तो लोगों को प्राप्त हैं, किंतु अधिकांश अभी भी उपलब्ध नहीं हुए हैं। संभव है कि ये सब अभी भी नेपाल-राजकीय-पुस्तकालय में अथवा अन्यत्र पड़े हों।

डा० बागची का कहना है कि 'उषाहरण', 'अंधकासुरवधोपाख्यान', 'कृष्णचरित्र', 'मदनचरित-कथा', 'कोलासुरवधोपाख्यान' तथा 'रामायण' नामक नाटक इन के रचित देख पड़ते हैं। 'उषाहरण' नाटक १७५४ ईस्वी में लिखा गया था। यह नाटक नौ अंकों में समाप्त हुआ है। यह रणजित् मल्ल के इष्टदेवता के मंदिर के जीर्णोद्धार के समय में खेला गया था, यह सूत्रधार के कथन से ज्ञात होता है।

'अंधकासुरवधोपाख्यान' नाटक १७६८ ईस्वी में रचा गया था। यह भी अपने इष्टदेवता के प्रीत्यर्थ लिखा था। इस के कुछ गद्यांश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। रानी शशिरेखा कहती है:—

> हे प्राणनाथ हमरो विनती शुन।
>
> अंधकासुर—प्रियतमा कहु।
>
> भीमानंद—(मन्त्री) हे दानवाधिप हमरो बिनती अवधान करु।
>
> अंध—भीमानंद! कहु।
>
> अंध—शशिरेखा प्रिये चलू आप सदने।
>
> कनक घरे रहि विलास मदने॥

इस के अतिरिक्त रणजित् मल्ल ने 'रामचरित' तथा 'माधवानलकामकंदला' नामक नाटकों की रचना की। 'माधवानलकामकंदला' सात अंकों

में समाप्त हुआ है। इस नाटक में माधवानल तथा कामकंदला के प्रेम का वर्णन है। अन्य नाटकों की तरह इस में भी मैथिली भाषा के प्राचीन शब्द तथा उन के प्रयोग पूर्णरूप से विद्यमान हैं। इस से पूर्व के नाटकों में केवल 'जन्हि', 'तन्हि' 'उन्हि' इत्यादि का प्रयोग मिलता है किंतु इस में 'जन्हि कर' प्रयोग देख कर यह मालूम होता है कि संबंध का चिह्न 'कर' बाद में लगने लगा है। आधुनिक मैथिलो में 'क' 'केर' 'कर' इन तीनों का प्रयोग होता है। 'गय' शब्द पूर्व में केवल भविष्यकालिक क्रिया के आगे देखने में आया है। इस नाटक में आज्ञा के साथ भी इस का प्रयोग हुआ है। जैसे—'सुरधुनि तह सुता देखु गय आवे, किय नहिं आयल हिय दर लावे' (अंक ३)। श्री ननीबाबू ने इस की भाषा को बंगला समझ रक्खा है। इस लिए उन्हें—

उगओब गीत मंजुल ॥
हकराँ साजनि चलु चूरु उ(ओ)गा(आ)रि ॥
आओब जाय लय पान सुपारि ॥

इस पद्य का अर्थ कठिन मालूम होता है। अतः उन्हों ने 'हँकरा' को 'एकला' तथा 'चलु चूरु' को 'चलुब' शुद्ध पाठ समझा है। किंतु यह ठीक नहीं मालूम होता है।

किसी के यहाँ कोई उत्सव हो तो उस को केवल देखने के लिए अन्य लोग बुलाए जाते हैं। इस बुलावे को मैथिली में 'हँकार' कहते हैं। तथा उत्सव-स्थान या उत्सव को 'हकरां' कहते हैं। देशाचार यह है कि ऐसे अवसर पर आई हुई सधवा स्त्रियों का तथा अविवाहिता कन्याओं का विशेष कर, एवं अन्य स्त्रियों का भी यथायोग्य सिंदूरादि से शृंगार किया जाता है। इस में जो शूद्रादि नीच कुल की स्त्रियाँ होती हैं, वे हाथ में भर भर कर तेल लेकर अपने अपने माथे में लगाती हैं और अत्यधिक तेल लगा लेती हैं तथा सिंदूर, पान सुपारी आदि लेकर अपने अपने घर को आती हैं। इसी बात का वर्णन यहाँ है। समकालीन कविवर मनबोध झा ने इसी बात को निम्नलिखित शब्दों में कहा है—

तेल सिन्दूर सभ देलन्हि ओआरी ।
चरि चरि चुरु देल मथा गोआरी ।
(कृष्णजन्म, पृ० ७)

'रामचरित्र' नाटक जो कलकत्ते में छपा है, उस की भाषा बंगला से कुछ मिलती जुलती है ।

इन नाटकों के अतिरिक्त मैथिली भाषा के और अनेक नाटक नेपाल में लिखे गए । जिन में से 'हरिश्चंद्रनृत्यम्' नाम का एक नाटक १८९१ ई० में आगस्ट कानरेडी द्वारा जर्मनी के लीपज़िग नगर से प्रकाशित हुआ है । इस में समस्त गान मैथिली में हैं, यह डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है । उन्हों ने यह भी कहा है कि इस प्रकार के दस बारह ही नहीं प्रत्युत इस से भी अधिक नाटक पाश्चात्य देशों के पुस्तकालयों विशेषकर जर्मनी तथा इंगलैंड में विद्यमान हैं ।

इन के अतिरिक्त और भी नाटकों का कुछ कुछ पता लगा है, जो कि ब्रिटिश म्यूज़ियम, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा जर्मनी के पुस्तकालयों में हैं । उन के नाम यहाँ दिए जाते हैं—

'रामनाटक'—तालपत्र पर लिखित है । रचना-काल प्रायः १३६० ई० है ।

'निष्कनाटक'—तालपत्र पर लिखित है । कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में इस की प्रति है ।

'सभातरंगिणी'—यह भी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में है ।

उक्त विवरण पढ़ कर लोगों की यह धारणा हो सकती है कि केवल मल्लवंशीय राजाओं ने ही मैथिली साहित्य की उन्नति के लिए चेष्टा की । किंतु मुझे तो यह अनुमान होता है कि नेपाल के पुस्तकालयों में खोज करने से मल्लवंश के बाद की रचनाओं का भी पता लग सकता है । क्योंकि गोर्खा लोग लगभग १७६८ में नेपाल में अपना राज्य फैला चुके थे । इस वंश के भी राजा लोग जैसे रणबहादुरशाह तथा गीर्वाणयुद्धविक्रमशाह (१७६९ ईस्वी) एवं राजेंद्र विक्रमशाह आदि बड़े विद्वान हुए हैं । और इन्हों ने संस्कृत में अनेक

ग्रंथ स्वयं लिखे हैं तथा विद्वानों से लिखाए भी है[१]। रणबहादुरशाह ने भी मिथिला से अपना वैवाहिक संबंध किया था और अनेक मैथिल विद्वानों को अपने राज्य-सभा में रक्खा था, इस का नेपाल की वंशावली से पता चलता है। मैथिली भाषा के गुणों से ये राजा लोग भी पूर्ण परिचित थे, इस में कोई संदेह नहीं। अतः संभव है कि गोर्खावंशीय राजाओं के समय में भी मैथिली की उन्नति नेपाल में अवश्य ही हुई। अभी भी नेपाल के बड़े बड़े घरानों की स्त्रियाँ काशीविश्वनाथ के पूजन के अवसर पर मैथिली गानों को गाती हुई दिखाई पड़ती हैं। इस का यही कारण है कि उन के देश में मैथिली ही गानों का महत्व है। और इतने मधुर गान, विशेष कर महादेव के भजन, अन्य भाषा में बहुत ही कम देख पड़ते हैं। पाठकों के मनोविनोदार्थ एक-दो ऐसे गानों का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक मालूम होता है—

जय जयदायक नटनक नायक
शैलतनया अरधङ्गे।
नटजनपालक भवभयनाशक
भूत क समुदय सङ्गे।
भुवन क ईश महेश ॥
कुमुद धवल रुचि दिनकर शशि शुचि
लोचन भुषण भुजङ्गे।
अलि क अमिअ कर विलसित जसु शिर
लेखक तटिनि तरङ्गे।
गरल क रुचि गल अतिहिन नुझु (?) छल
लेपित भसमहि अङ्गे।
पुरहर दयामय जन्हि बड रोष कय
कामहु कयल अनङ्गे।
विश्वलक्ष्मिसुत भन जय रणजित

---

[१] नेपाल राजकीय पुस्तकालय हस्तलिखित ग्रंथ सूची, पृ० २४२-२४७।

राखथु मोहि निज सङ्गे ।
अभिमत फल दय विघनओ दुर कय
नाचहु कय बहुरङ्गे ॥

परवेश सुत्र भय कयल रसाल ।
पहिलहि महेशेर कपिल जहाल ॥
तुहिन किरण कला भेला जसु भाल ।
शिर सुरसरि उर नरशिर माल ॥
पहिरिअ भले भाँति बाघक छाल ।
भूषण रचिअ वर फणधर जाल ॥
भन रणजित नृप परम कृपाल ।
तसु भजने पड़िय नहि भवजाल ॥

नेपाल में रचे गए मैथिली नाटकों में दो प्रकार की रचनाशैली देखने में आती है। कुछ तो केवल गान ही से भरे हैं। गानों के अतिरिक्त दो-तीन संस्कृत में श्लोक होते हैं तथा पात्रों के प्रवेश और निस्सार एवं गानों के रागों के नाम भी कहीं-कहीं लिखे रहते हैं, जैसा 'विद्याविलाप' आदि नाटकों में देख पड़ता है। इस प्रकार नाटकों के लिखने का ढंग, मालूम होता है, उन दिनों विशेष प्रचलित था। संस्कृत भाषा में भो ऐसे नाटक मिलते हैं, जिस से यह अनुमान होता है, कि केवल भाषा-नाटक ही में ऐसा नियम नहीं था। मिथिलेश महाराज महेश्वरसिंह के समय (१८१८ ई०) में दरभंगा मंडलांतर्गत हाटी ग्राम-निवासी सोदरपुर वंशोद्भव महोपाध्याय पंडित मधुसूदन मिश्र का बनाया हुआ 'जानकीपरिणय' नामक संस्कृत भाषा का नाटक भी इसी प्रकार श्लोकबद्ध ही है। कहीं-कहीं एक या दो पंक्तियाँ गद्य में हैं।

दूसरे प्रकार के नाटक में संस्कृत, प्राकृत तथा मैथिली इन तीनों भाषाओं का मिश्रण है। जैसे वंशमणिरचित 'गीतदिगंबरनाटक'। उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश भाग तो मैथिलो पद्य ही में लिखा जाता था किंतु कहीं-कहीं गद्य का भी अंश मैथिली भाषा में होता था जैसे

'अंधकासुरवधोपाख्यान' नामक नाटक में देख पड़ता है। इस प्रकार की लेखन-प्रणाली मुख्य मिथिला में भी बहुत दिनों तक प्रचलित थी।

नेपाल में मैथिली भाषा की उन्नति का यह संक्षेप विवरण है। यदि उक्त सभी ग्रंथ मिल जायँ तो मैथिली साहित्य का बहुत ही सुंदर इतिहास लिखा जा सकता है किंतु यह अभी एक मनोरथ मात्र मालूम होता है।

समालोचना

साहित्य

शेक्सपियर व तत्कालीन इंग्रजी रंगभूमि (मराठी)—लेखक, गणेश हरिकेलकर, एम्० ए० (मुंबई व कैंब्रिज)। प्रकाशक, वेंकटेश शामराव बलकुंदी, बी० ए०, व्यवस्थापक, नवभारत ग्रंथमाला, कांग्रेसनगर, नागपुर। पृष्ठसंख्या २१२। मूल्य १॥)।

समालोच्य पुस्तक नागपुर से प्रकाशित मराठी भाषा की 'नवभारत ग्रंथमाला' का तीसरा ग्रंथ है और इस के रचयिता हैं प्रसिद्ध फ़र्ग्युसन कालेज के अँग्रेज़ी भाषाध्यापक प्रोफ़ेसर केलकर। पुस्तक के आरंभ में दी हुई प्रस्तावना से पता चलता है कि इस का मुख्य विषय शेक्सपियर है, किंतु, उस के महत्व को भली-भाँति विवेचित करने के उद्देश्य से, लेखक ने, साथ ही, अँग्रेज़ी नाट्यकला के उदय व विकास तथा शेक्सपियर-कालीन लोकस्थिति विषयक प्रसंगों पर भी आवश्यक प्रकाश डालना उचित समझा है। लेखक के अनुसार परिस्थिति अनुकूल होने पर ही किसी महापुरुष के गुणों का विकास हो सकता है और उचित परिस्थिति के अभाव में अच्छे अच्छे गुण भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। अतएव शेक्सपियर की श्रेष्ठता भी, तदनुसार, उस के पूर्व एवं समसामयिक परिस्थितियों पर ही बहुत कुछ निर्भर होने के कारण, उस के नाटकों की उत्तमता उस की प्रतिभा एवं तदनुकूल परिस्थिति के सुंदर संमिलन का ही परिणाम-स्वरूप है। लेखक ने पुस्तक में, इस ओर, पाठकों का ध्यान, यथावसर, बराबर आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

पुस्तक के अंतर्गत कुल बारह प्रकरण हैं, जिन्हें 'शेक्सपियर पूर्वी', 'शेक्सपियर' तथा 'शेक्सपियरनंतर' नामक तीन खंडों में विभाजित किया

गया है। प्रथम खंड के दो प्रकरण 'इंग्रजी नाट्यकलेचा उदय' एवं 'शेक्सपियर च्या पूर्वीचे नाटककार' में लेखक ने बतलाया है कि आरंभिक युग में किस प्रकार धर्म को ही सभी विद्याओं तथा कलाओं का अधिष्ठान समझा जाता था और इन सब का उपयोग देवताओं और पितरों के संतोषार्थ ही किया जाता था। किस प्रकार स्वभावतः उत्सवप्रिय मानव समाज ने सर्वप्रथम धार्मिक आख्यानों को जन्म देकर तदनंतर उन में ललित-लीलाओं का भी समावेश किया और किस प्रकार धार्मिक चरित्र अथवा नैतिक आदर्शों के साथ हो, योरप में, क्रमशः कारीगरी अथवा व्यवसाय विषयक बातों को भी स्थान देने का प्रबंध करते हुए नाटकीय खेलों का प्रचार बाहर के देहातों में भी कर दिया। योरप के विद्या व कला वाले प्रसिद्ध पुनरुज्जीवन तथा धार्मिक सुधार संबंधी आंदोलनों द्वारा भी नाटकों को लौकिक मार्ग पर बराबर अग्रसर होने में बहुत कुछ सहायता मिली और धीरे-धीरे सारे देश में नाटकगृहों के निर्माण तथा नवीन नवीन नाटकों की रचना एवं अभिनय होने लगे। इंगलैंड में लंदन नगर के बाहर टेम्स नदी के उत्तरी किनारे पर सर्वप्रथम स्वतंत्र रंगमंच की नींव भी ऐसे ही समय के प्रवाह में आकर सन् १५७६ में डाली गई।

शेक्सपियर के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध अंग्रेज़ी नाटककारों में से, किड को छोड़ कर, प्रायः सभी आक्सफोर्ड अथवा केंब्रिज के पदवीधारी थे और उन के ऊपर स्वभावतः ग्रीक एवं रोमन नाटकों के सिवाय मध्ययुगीन कवियों को अद्भुत कथामयी कृतियों के भी अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता था। वे नवीन परिस्थितियों में पड़ कर नितांत 'स्वच्छंदी' अथवा पूरे 'रंगी' जीव ही बन गए थे अतएव उन में से सभी की रचनाओं में पर्याप्त गांभीर्य अथवा स्थायित्व के गुणों का पाया जाना आश्चर्य की बात थी। हाँ, भिन्न-भिन्न नाट्यकारों के अंतर्गत भिन्न-भिन्न विशेषताएँ जैसे, किड में रौद्र व भयानक, मार्लो में वीर व उदात्त, लिली में लालित्य एवं लाज वा ग्रीन में शृंगार व कोमलत्व के बीज अलग-अलग अवश्य लक्षित हो रहे थे, जिन के समन्वय की सामग्री द्वारा निसर्ग देवता ने शेक्सपियर को अनुपम मूर्ति संघटित की।

इस के आगे लेखक ने 'शेक्सपियर' नामक दूसरे खंड के सात प्रकरणों में से प्रथम अथवा 'पूर्वचरित्र' में उस के माता-पिता, जन्म, शिक्षण, विविध अनुभव, व्यवसाय, विवाह, ग्राम-त्याग, लंदन के नाटक-गृहों की नौकरी एवं मित्रमंडली आदि अनेक उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाल कर द्वितीय अथवा 'प्रारंभींची काव्य रचना' द्वारा उस की सर्वप्रथम रचनाओं अर्थात् छोटे-छोटे काव्यखंडों तथा सॉनेट्स का परिचय दिया है। तदनंतर 'शेक्सपियर कालीन लोकस्थिति' नामक तीसरे प्रकरण में यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि इंगलैंड अथवा इंगलैंड के संबंध में घटित होने वाली विशिष्ट घटनाओं द्वारा प्रभावित 'उदयोन्मुख', आत्मविश्वासी तथा 'कर्तृत्ववान' अंग्रेज़ी समाज की विविध भावनाओं ने किस प्रकार शेक्सपियर के नाटकों की रचना के लिए 'पार्श्वभूमिका' तैयार कर दी। 'नाटक रचनेंतीच उमेदवारी' तथा 'शेक्सपियरच्या नाटकांचा परिचय' नामक चतुर्थ और पंचम प्रकरणों में लेखक ने सन १५९० ई० से लेकर चार पाँच वर्ष पर्यंत शेक्सपियर द्वारा नाटक रचना संबंधी किए गए प्रारंभिक प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय देकर उस के अनंतर पंद्रह सोलह वर्षों तक बराबर लिखे और खेले गए उस के प्रसिद्ध नाटकों का भी विवरण लिखा है। विवरण देते समय इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि भिन्न भिन्न नाटकों का, उन के विषयानुसार, अलग वर्गीकरण भी हो जाय और प्रत्येक वर्गीकरण का कुछ न कुछ सामान्य विवेचन भी होता चले। 'आयुष्याचा उत्तरार्ध' में शेक्सपियर के अंतिम दिनों के विषय में संक्षिप्त चर्चा करके इस खंड के अंतिम प्रकरण अर्थात् 'नाटकांचें सामान्य विवेचन' द्वारा लेखक ने उक्त नाटकों की प्रसिद्ध दो आवृत्तियाँ, उन का काल-निर्णय, उन के मूल आधार एवं शेक्सपियर की भाषाशैली आदि के साथ साथ उस की योग्यता का एकत्र विस्तृत परिचय दिया है, जो बहुत ही सुंदर है।

पुस्तक के तीसरे खंड का नाम 'शेक्सपियरनंतर' होने पर भी उस में विशेष चर्चा शेक्सपियर के अंतिम समय-संबंधी बातों अथवा उस के समसामयिक नाटककारों को लक्ष करके ही की गई है। इस में कुल तीन प्रकरण हैं, जिन में से प्रथम के अंतर्गत 'लोकस्थितीचें पुनः एकदा निरीक्षण' द्वारा

शेक्सपियर की कृतियों के कारण तत्कालीन लोकाभिरुचि में होने वाले परिमार्जन और संशोधन का संक्षिप्त किंतु उत्तम विवेचन किया गया है और दूसरे अर्थात् 'शेक्सपियरच्या समकालीन व नंतरचे नाटककार' में बेन जान्सन, बोमंट और फ़्लेचर, टॉमस डेक्कर, चैपमन प्रभृति अनेक नाटक-रचयिताओं एवं उन को रचनाओं के विवेचनात्मक प्रसंग हैं। अंत में उपसंहार नामक, खंड के तीसरे अथवा पुस्तक के ही बारहवें, प्रकरण में लेखक ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि शेक्सपियर के अनुकरण में कुछ दिनों तक नाटक-चर्चा की बाढ़ किस प्रकार आगे फैल कर सन् १६४२ ई० के अनंतर, इङ्गलैंड को पार्लिमेंट सभा द्वारा, अचानक रोक दी गई और शेक्सपियर की 'सर्वव्यापी नाट्यसृष्टी' का कुछ दिनों के लिए लोप-सा हो गया।

पुस्तक में शेक्सपियर-कालीन नाटक-गृहों के विषय में पाठकों की धारणा निश्चित करने के लिए सन् १५९६ में प्राप्त रंगभूमि के एक रेखाचित्र की प्रतिलिपि दी गई है और शेक्सपियर के सब से पुराने तथा प्रामाणिक चित्र का भी एक फ़ोटो है। इस के सिवाय बेन जान्सन आदि शेक्सपियर के सात प्रसिद्ध समसामयिक नाटककारों के भी चित्र एक साथ, एक पृष्ठ पर, दिए गए हैं और अंत में 'कांही संदर्भ-ग्रंथ' एवं 'सूची' द्वारा क्रमशः पुस्तक के प्रत्येक खंडानुसार उपयोगी ग्रंथों की तालिका तथा पुस्तक में आए हुए महत्व-पूर्ण नामों की अनुक्रमणिका भी लगा कर, इसे सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है।

शेक्सपियर के संबंध में अंग्रेज़ी भाषा में पांडित्यपूर्ण ग्रंथों की कमी नहीं है। लेखक ने अपनी सामग्री वहीं से प्राप्त की है। परंतु उस के चुनने तथा उसे सजाने में लेखक ने सुरुचि दिखाई है। पुस्तक से उस के रचयिता की योग्यता व परिश्रम का पूर्ण परिचय मिलता है। यह छोटी होने पर भी वास्तव में, बहुत उत्तम और उपयोगी है और हम चाहते हैं कि ऐसी पुस्तकों की रचना व प्रचार हिंदी भाषा में भी अधिक से अधिक हुआ करे।

सामाजिक इतिहास

भारतीय अस्पृश्यतेचा प्रश्न—(मराठी) लेखक, विट्ठल रामजी शिंदे, बी० ए०। प्रकाशक, वेंकटेश शामराव बलकुंदी, बी० ए०, एल्-एल्०बी—व्यवस्थापक, नवभारत ग्रंथमाला कांग्रेसनगर। नागपूर, सन् १९३३ ई०। पृष्ठ-संख्या २२८। मूल्य १॥)।

प्रस्तुत रचना भी 'नवभारत ग्रंथमाला' का ही छठवाँ ग्रंथ है और इस के रचयिता हैं बंबई की प्रसिद्ध 'भारतीय निराश्रित साहाय्यकारी मंडली' के संस्थापक श्री शिंदे महाशय, जिन्हों ने अस्पृश्यता के प्रश्न को लेकर प्रायः तीस वर्षों तक अध्ययन और आंदोलन किया है। इस रचना द्वारा उन्हों ने 'शास्त्रीय दृष्टि व निर्विकार मन' से यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वर्तमान अस्पृश्यता नामक संस्था संसार में किस प्रकार क़ायम हुई और इस का विकास, विशेषतः भारतवर्ष में, किन किन कारणों से व किन किन रूपों में क्रमशः घटित होता गया है। वे उक्त प्रश्न पर अब भी विचार करते जा रहे हैं और आशा की जाती है कि, प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना एवं अंतिम पृष्ठों में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, वे इस रोचक एवं सामयिक विषय के अन्य पहलुओं पर भी अपने सार्वजनिक जीवन के फलस्वरूप कोई न कोई अन्य ग्रंथ भी शीघ्र लिखेंगे।

इस पुस्तक को, विषयानुसार, दो खंडों में विभक्त किया गया है जिन में से पहले अर्थात् 'अस्पृश्यतेचा इतिहास' नामक खंड के अंतर्गत 'सामान्य आलोचन', 'पुरातन अस्पृश्यतेचें रूपनिदर्शन', 'बौद्ध कालांतील अस्पृश्यता', 'मनुस्मृति कालीन अस्पृश्यता', 'उत्तर युगीन अथवा अर्वाचीन अस्पृश्यता' एवं 'ब्रह्मदेशांतील वहिष्कृतवर्ग' नामक छः प्रकरणों द्वारा लेखक ने अस्पृश्ता की परिभाषा, उदय, व्यापकता और क्रमविकास के विषय में अपने विचार सप्रमाण प्रकट करने का प्रयत्न किया है। अस्पृश्यता 'एक पुरातन सामाजिक जागतिक संस्था' है जो सूतक, मृतक, सांसर्गिक रोग अर्थात् नैमित्तिक अथवा जातीय अर्थात् नित्य अस्पृश्यता के रूप में संसार के प्रायः सभी देशों में अत्यंत प्राचीन काल से ही रहती आई है। किंतु लेखक ने नैमित्तिक

अस्पृश्यता की ओर विशेष ध्यान न देकर नित्य अस्पृश्यता को ही समालोच्य ग्रंथ का मुख्य विषय रक्खा है। लेखक के अनुसार भारतीय अस्पृश्यता का मुख्य लक्षण किसी विशेष जाति को उस की वंश-परंपरा के अनुसार अस्पृश्य मान कर उसे गाँव के बाहर बसाना तथा वहिष्कार के नियमों के किसी प्रकार भंग हो जाने पर प्रचलित धार्मिक अथवा राजकीय विधानों का अमल में लाना मात्र समझा जा सकता है, जिस कारण इसे जातीय अथवा नित्य अस्पृश्यता मानना चाहिए। इस का मुख्य परिणाम अस्पृश्य जाति का किसी न किसी रूप में निराश्रित रहना है।

परंतु प्राचीन भारतीय ग्रंथों के देखने से पता चलता है कि यहाँ पर भी अस्पृश्यता का रूप पहले उक्त सीमा तक नहीं पहुँचा था। भारतीय अस्पृश्यता का वर्तमान रूप प्रागैतिहासिक काल से आज तक घटित होती आने वाली विविध धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक घटनाओं का संमिलित परिणाम है, जिन का निर्देश लेखक ने ऋग्वेद संहिता से लेकर पाणिनि के सूत्रों, जातकों, स्मृतियों तथा पुराणों के हवाले देकर बहुत कुछ सफलता-पूर्वक किया है। उस से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय अस्पृश्यता को वर्तमान रूढित्व प्रदान करने में वर्णव्यवस्था के वर्णद्वेष अथवा जातिद्वेष एवं ग्राम-संस्था के स्वकीय वृत्तिलोभ और परकीय वृत्तिमत्सर ने सब से अधिक भाग लिया है। लेखक ने भारत की और विशेष कर बर्मा की कतिपय वर्तमान अस्पृश्य जातियों के पुराने इतिहासों के संक्षिप्त विवरण देकर यह भी दिखलाया है कि वे किस प्रकार पहले आर्यों के प्रायः समान ही अनेक प्रकार से सुखी और संपन्न रहा करती थीं, किंतु समयानुसार, केवल विजित हो जाने के कारण, किस प्रकार उन पर विजयी वर्ग का प्रभाव उपरोक्त दोनों संस्थाओं के द्वारा क्रमशः बढ़ता गया और वे वहिष्कृत एवं निराश्रित तक हो हो गईं। ये ऐतिहासिक विवरण वास्तव में बड़े ही मार्मिक और मनोरंजक हैं।

पुस्तक का दूसरा खंड अर्थात् 'अस्पृश्यतेचा प्रश्न' पहले खंड से लगभग दूना बड़ा है, किंतु इस में प्रकरण पांच ही हैं जिन के नाम क्रमशः 'संख्या आणि लक्षणें' 'नांवांची व्युत्पत्ति व इतिहास' 'धर्म', 'सामाजिक स्थिति', और

'राजकारण' हैं। 'संख्या आणि लक्षणें' नामक प्रकरण में अस्पृश्य कहलाने वाली भिन्न भिन्न जातियों का वर्गीकरण कर के उन में से प्रत्येक की संख्या सन् १९०१ ई० की सरकारी मनुष्य-गणना के अनुसार निर्धारित की गई है। लेखक ने भारत की समग्र अस्पृश्य मंडली को पहले उन के नीच धंधा स्वीकार करने, कालांतर में विजित होने, बौद्धादि धर्मों से हिंदू धर्म में आने, जंगली अवस्था में रहने तथा मनुस्मृति के अनुसार विभागों के भीतर गिने जाने के क्रम से पाँच बड़े बड़े वर्गों के नाम से विभक्त किया है और तदनंतर उन के अंतर्गत आने वाले जातिगत नामों की भी तालिका दी है। इस कारण सन् १९०१ ई० की मनुष्यगणना तथा 'लोदियन कमिटी' की रिपोर्ट के हिसाबों से तुलना करने पर थोड़ा बहुत अंतर पड़ जाने की संभावना है। परंतु लेखक के द्वारा निश्चित पद्धति को भी हम उस के वैज्ञानिक आधार के कारण किसी प्रकार कम समीचीन नहीं ठहरा सकते। 'नावांची व्युत्पत्ति व इतिहास' नामक प्रकरण में, इसी प्रकार, लेखक ने कतिपय मुख्य मुख्य अस्पृश्य जातियों के नामों की मूल-व्युत्पत्ति का भाषा शास्त्रानुसार विवेचन करते हुए उन के क्रमशः विकसित वर्तमान रूपों पर भी विचार किया है और अपने प्रायः तीस वर्षों के सूक्ष्म निरीक्षण एवं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि आजकल अस्पृश्य के नाम से पुकारी जाने वाली इन अनेक जातियों की मूल दशा, वास्तव में, कभी बहुत ही ऊँची और उज्ज्वल रह चुकी है। विषय की नवीनता एवं लेखक की सुंदर शैली के कारण यह प्रकरण अत्यंत रोचक हो गया है।

'धर्म' नामक प्रकरण में यह दिखलाया गया है कि वर्तमान भारतीय अस्पृश्यता का रूप पहले-पहल मनुस्मृति के काल में ही निश्चित हो चुका था, परंतु निष्पक्ष भाव से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अस्पृश्य कहलाने वाली अनेक जातियों की गणना हिंदू धर्म के भीतर की ही नहीं जा सकती। वे वास्तव में संस्कारतः हिंदू न होकर केवल संसर्गतः अथवा स्वभावतः हिंदू बन गए हैं, अतएव उन के लिए मंदिर-प्रवेश का प्रश्न उठाना उन के धार्मिक से अधिक सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए ही आंदोलन करना है।

अस्पृश्यों के हृदय में अपनी अस्पृश्यता की भावना का क़ायम रहना अत्यंत कष्टप्रद बात है, जिस का अनुभव उन में से शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों को नित्यप्रति होता रहता है। 'सामाजिक स्थिति' वाले प्रकरण में लेखक ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है और बतलाया है कि अस्पृश्यता ने हमारे समाज में एक प्रकार की विवशता उत्पन्न कर दी है, जिस से या तो दुरवस्था में पड़े हुए अछूत को अपनी हीनता सताती रहती है अथवा किसी प्रकार थोड़ी सी योग्यता प्राप्त कर लेने पर भी सामाजिक अपमान की तीव्र वेदना उसे बेचैन किए बिना नहीं छोड़ती। पुस्तक के अंतिम प्रकरण 'राजकारण' में दिखलाया गया है कि किसी बलिष्ठ जाति के दुर्बल जाति पर विजय प्राप्त कर लेने का परिणाम क्या होता है और इस बात को भारत के इतिहास द्वारा हम कहाँ तक उदाहृत कर सकते हैं। अस्पृश्य कहलाने वाली जातियाँ मूलतः किसी प्रकार भी हीन नहीं हैं और अवसर प्राप्त करने पर वे किसी से भी कम सफल नहीं हो सकतीं इस बात को भी लेखक ने अनेक उदाहरण दे कर सिद्ध किया है और साथ ही 'राजकारण' में महत्वपूर्ण सुधारों की आयोजना की भी आवश्यकता बतलाई है। अंत में अगले ग्रंथ के मुख्य विषय दलितोद्धार संबंधी प्रयत्नों का इतिहास एवं उपाय चिंतन की ओर संकेत कर के लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक को समाप्त किया है। इस के अनंतर ४७ संदर्भ, पुस्तकों की तालिका और पुस्तक के विशिष्ट शब्दों की सूची भी दे दी गई है।

पुस्तक सामयिक होने के साथ ही अत्यंत महत्वपूर्ण और उपयोगी है और एक बार भी पढ़ लेने पर इस में उठाये गए प्रश्नों पर प्रत्येक पाठक का चिंताशील हो जाना अवश्यंभावी है। ग्रंथ का श्री सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदा के नाम अर्पित होना भी बहुत उपयुक्त हुआ है।

प० रा० च०

हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

(१) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था—लेखक, मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, एम्० ए०, एल्-एल्० एम्० । मूल्य १।)

(२) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति—लेखक, राय बहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा । सचित्र । मूल्य ३)

(३) कवि-रहस्य—लेखक, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा । मूल्य १।)

(४) अरब और भारत के संबंध—लेखक, मौलाना सैयद सुलैमान साहब नदवी । अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा । मूल्य ४)

(५) हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता—लेखक, डाक्टर बेनीप्रसाद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्-सी० (लंदन) । मूल्य ६)

(६) जंतु-जगत—लेखक, बाबू ब्रजेश बहादुर, बी० ए०, एल्-एल्० बी० । सचित्र । मूल्य ६।।)

(७) गोस्वामी तुलसीदास—लेखक, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और श्रीयुत पीतांबरदत्त बड्थ्वाल । सचित्र । मूल्य ३)

(८) सतसई-सप्तक—संग्रहकर्ता, राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास । मूल्य ६)

(९) चर्मबनाने के सिद्धांत—लेखक, बाबू देवीदत्त अरोरा, बी० एस्-सी० । मूल्य ३)

(१०) हिंदी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट—संपादक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । मूल्य १।।)

(११) सौर-परिवार—लेखक, डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस्-सी०, एफ्० आर० ए० एस्० । सचित्र । मूल्य १२)

(१२) अयोध्या का इतिहास—लेखक, रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१३) घाघ और भड्डरी—संपादक, पंडित रामनरेश त्रिपाठी । मूल्य ३)

(१४) वेलि क्रिसन रुकमणी री—संपादक, ठाकुर रामसिंह, एम्० ए० और श्री सूर्यकरण पारीक, एम्० ए० । मूल्य ६)

(१५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य—लेखक, श्रीयुत गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए० । सचित्र । मूल्य ३)

(१६) भोजराज—लेखक, श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ । मूल्य ३॥) सजिल्द, ३) बिना जिल्द ।

(१७) हिंदी उर्दू या हिंदुस्तानी—लेखक, श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा । मूल्य सजिल्द १॥), बिना जिल्द १)

(१८) नातन—लेसिंग के जर्मन नाटक का अनुवाद । अनुवादक—मिर्ज़ा अबुल्फ़ज़ल । मूल्य १।)

(१९) हिंदी भाषा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम्० ए० । मूल्य सजिल्द ४), बिना जिल्द ३॥)

(२०) औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल—लेखक, श्रीयुत शंकरसहाय सक्सेना । मूल्य सजिल्द ५॥), बिना जिल्द ५)

(२१) ग्रामीय अर्थशास्त्र—लेखक, श्रीयुत ब्रजगोपाल भटनागर, एम्० ए० । मूल्य ४॥) सजिल्द; ४) बिना जिल्द ।

(२२) भारतीय इतिहास की रूपरेखा (२ भाग)—लेखक, श्रीयुत जयचंद्र विद्यालंकार । मूल्य प्रत्येक भाग का सजिल्द ५॥) बिना जिल्द ५)

हिंदुस्तानी

तिमाही पत्रिका

की पहले तीन वर्ष की कुछ फ़ाइलें अभी प्राप्त हो सकती हैं । मूल्य पहले वर्ष का ८) तथा दूसरे और तीसरे वर्ष का ५) ।

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत, इलाहाबाद

सोल एजेंट

इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद
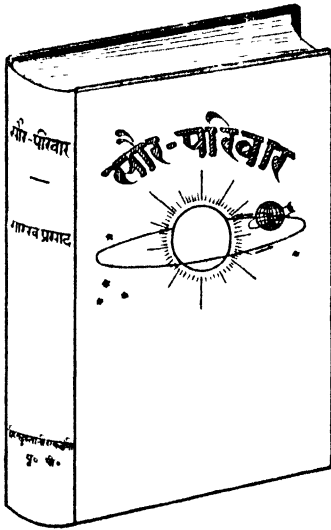
हिंदुस्तानी एकेडेमी के उद्देश

हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्देश हिंदी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना है। इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह

(क) भिन्न भिन्न विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों पर पुरस्कार देगी।

(ख) पारिश्रमिक देकर या अन्यथा दूसरी भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करेगी।

(ग) विश्व-विद्यालयों या अन्य साहित्यिक संस्थाओं को रुपए की सहायता देकर मौलिक साहित्य या अनुवादों को प्रकाशित करने के लिए उत्साहित करेगी।

(घ) प्रसिद्ध लेखकों और विद्वानों को एकेडेमी का फ़ेलो चुनेगी।

(ङ) एकेडेमी के उपकारकों को सम्मानित फ़ेलो चुनेगी।

(च) एक पुस्तकालय की स्थापना और उस का संचालन करेगी।

(छ) प्रतिष्ठित विद्वानों के व्याख्यानों का प्रबंध करेगी।

(ज) ऊपर कहे हुए उद्देश की सिद्धि के लिए और जो जो उपाय आवश्यक होंगे उन्हें व्यवहार में लाएगी।

मुद्रक—महेन्द्रनाथ पाण्डेय, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—डाक्टर ताराचंद, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद